गल्प-गुच्छ

चतुर्थ भाग

मूल-लेखक
डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादक
रूपनारायण पाण्डेय

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१६२६

[प्र]थम संस्करण] [मूल्य १)

५७।

सूचीपत्र

गल्प-गुच्छ

चतुर्थ भाग

दीदी

१

देहात की रहनेवाली एक अभागिन के अन्यायकारी अत्याचारी स्वामी के कुकर्मों का विस्तार-पूर्वक वर्णन करके परोसिन तारा ने बहुत ही संक्षेप में अपनी राय ज़ाहिर करते हुए कहा—ऐसे स्वामी के मुँह में आग।

सुनकर उपेन्द्र की स्त्री नलिनी बहुत ही व्यथित हुई। मर्दों के मुँह में चुरट की आग के सिवा और किसी तरह की आग की कामना करना किसी दशा में स्त्री-जाति को नहीं सोहता। इस कारण, इस सम्बन्ध में, नलिनी के कुछ संकोच दिखाने पर निठुर तारा ने दूने उत्साह से कहा—"ऐसे स्वामी के रहने से तो सात जन्म राँड़ रहना अच्छा।" यह कहकर वह सभा-विसर्जन करके चली गई।

नलिनी ने मन में सोचा, मैं तो स्वामी के किसी ऐसे अपराध की कल्पना नहीं कर सकती कि उनके प्रति मन का

भाव ऐसा कठिन किया जा सके। मन में इस बात की आलोचना करते-करते उसके कोमल हृदय का सारा प्रेमरस उसके परदेसी स्वामी की ओर उमड़ चला। जिस पलँग पर उसका स्वामी सोता था उसी पर लेटकर दोनों हाथ फैलाकर उसने तकिये को चूमा—तकिये में उसने स्वामी के सिर की सुगन्ध का अनुभव किया। उसके बाद सन्दूक़ से स्वामी की एक पुरानी तसवीर और उसके हाथ की लिखी हुई कई चिट्ठियाँ नलिनी ने निकालीं। उस दिन का दोपहर का सन्नाटा इसी तरह कमरे में अकेले पुरानी याद और विषाद के आँसुओं में ही बीत गया।

नलिनी और उपेन्द्र का ब्याह हुए बहुत दिन हो गये। बाल-बच्चे भी हो चुके हैं। दोनों ने बहुत दिन तक एक जगह रहकर अत्यन्त साधारण भाव से ही जीवन बिताया है। किसी ओर अपरिमित प्रेम के उच्छ्वास का कोई लक्षण नहीं दिखाई दिया। लगातार सोलह वर्ष इसी तरह वियोग-बाधा के बिना बिताकर एकाएक नौकरी के लिए स्वामी के बाहर चले जाने पर नलिनी के मन में प्रबल प्रेम का आवेग जाग उठा। विरह के द्वारा प्रेमबन्धन में जितना ही खिंचाव पड़ने लगा उतना ही कोमल हृदय में उसकी गाँठ कड़ी पड़ने लगी। ढीली अवस्था में जिसके अस्तित्व का अनुभव नहीं समझा था उसी की वेदना इस समय पूर्णरूप से जान पड़ने

इसी से आज इतने दिनों के बाद इस अवस्था में बाल-बच्चों की मा होकर नलिनी वसन्त की दोपहरी में एकान्त कमरे में विरह-शय्या पर, जिसकी जवानी उभर रही हो ऐसी नई दुलहिन का, सुख-स्वप्न देखने लगी। जो प्रेम अज्ञात भाव से जीवन के सामने से प्रवाहित हो गया है उसी के कलरव से आज एकाएक जागकर, मन ही मन पीछे की ओर लौटकर, नलिनी अनेक कुञ्जवनों और सुवर्णपुरियों के दृश्य देखने की चेष्टा करने लगी। किन्तु उस अतीत सुख-सम्भावना के भीतर पैर रखने के लिए अब स्थान नहीं है। उसने मन में कहा—"अबकी जब स्वामी को पास पाऊँगी तब जीवन को नीरस और वसन्त को निष्फल न जाने दूँगी।" पिछले दिनों में न-जाने कितनी दफ़ा तुच्छ तर्क को लेकर साधारण कहा-सुनी में स्वामी के प्रति उसने उपद्रव किये थे। आज नलिनी ने अपने मन में पछतावा करके यह सङ्कल्प किया कि अब कभी ऐसी मनमानी धींगाधींगी न करूँगी, स्वामी की इच्छा में रोक-टोक न करूँगी। उनकी आज्ञा मानूँगी, प्रीतिपूर्ण नम्र भाव से चुपचाप स्वामी के भले-बुरे सब आचरणों को सह लूँगी; क्योंकि स्वामी सर्वस्व है, प्रियतम है, देवता है।

बहुत दिनों तक नलिनी ही अपने मा-बाप की एकमात्र सन्तान होने के कारण दुलारी बेटी थी। इसी कारण यद्यपि सात रुपये की मास्टरी करता था, तथापि आगे के

भाव ऐसा कठिन किया जा सके। मन में इस बात की आलोचना करते-करते उसके कोमल हृदय का सारा प्रेमरस उसके परदेसी स्वामी की ओर उमड़ चला। जिस पलँग पर उसका स्वामी सोता था उसी पर लेटकर दोनों हाथ फैलाकर उसने तकिये को चूमा—तकिये में उसने स्वामी के सिर की सुगन्ध का अनुभव किया। उसके बाद सन्दूक़ से स्वामी की एक पुरानी तसवीर और उसके हाथ की लिखी हुई कई चिट्ठियाँ नलिनी ने निकालीं। उस दिन का दोपहर का सन्नाटा इसी तरह कमरे में अकेले पुरानी याद और विषाद के आँसुओं में ही बीत गया।

नलिनी और उपेन्द्र का ब्याह हुए बहुत दिन हो गये। बाल-बच्चे भी हो चुके हैं। दोनों ने बहुत दिन तक एक जगह रहकर अत्यन्त साधारण भाव से ही जीवन बिताया है। किसी ओर अपरिमित प्रेम के उच्छ्वास का कोई लक्षण नहीं दिखाई दिया। लगातार सोलह वर्ष इसी तरह वियोग-बाधा के बिना बिताकर एकाएक नौकरी के लिए स्वामी के बाहर चले जाने पर नलिनी के मन में प्रबल प्रेम का आवेग जग उठा। विरह के द्वारा प्रेमबन्धन में जितना ही खिंचाव पड़ने लगा उतना ही कोमल हृदय में उसकी गाँठ कड़ी पड़ने लगी। ढीली अवस्था में जिसके अस्तित्व का अनुभव नहीं हुआ था उसी की वेदना इस समय पूर्णरूप से जान पड़ने लगी।

इसी से आज इतने दिनों के बाद इस अवस्था में बाल-बच्चों की मा होकर नलिनी वसन्त की दोपहरी में एकान्त कमरे में विरह-शय्या पर, जिसकी जवानी उभर रही हो ऐसी नई दुलहिन का, सुख-स्वप्न देखने लगी। जो प्रेम अज्ञात भाव से जीवन के सामने से प्रवाहित हो गया है उसी के कलरव से आज एकाएक जागकर, मन ही मन पीछे की ओर लौटकर, नलिनी अनेक कुञ्जवनों और सुवर्णपुरियों के दृश्य देखने की चेष्टा करने लगी। किन्तु उस अतीत सुख-सम्भावना के भीतर पैर रखने के लिए अब स्थान नहीं है। उसने मन में कहा—"अबकी जब स्वामी को पास पाऊँगी तब जीवन को नीरस और वसन्त को निष्फल न जाने दूँगी।" पिछले दिनों में न-जाने कितनी दफ़ा तुच्छ तर्क को लेकर साधारण कहा-सुनी में स्वामी के प्रति उसने उपद्रव किये थे। आज नलिनी ने अपने मन में पछतावा करके यह सङ्कल्प किया कि अब कभी ऐसी मनमानी धींगाधींगी न करूँगी, स्वामी की इच्छा में रोक-टोक न करूँगी। उनकी आज्ञा मानूँगी, प्रीतिपूर्ण नम्र भाव से चुपचाप स्वामी के भले-बुरे सब आचरणों को सह लूँगी; क्योंकि स्वामी सर्वस्व है, प्रियतम है, देवता है।

बहुत दिनों तक नलिनी ही अपने मा-बाप की एकमात्र सन्तान होने के कारण दुलारी बेटी थी। इसी कारण उपेन्द्र यद्यपि सात रुपये की मास्टरी करता था, तथापि आगे के लिए

२

लड़के का नाम रक्खा गया नीलमणि। जब नीलमणि दो वर्ष का हुआ तब उसके पिता कालीप्रसन्न को पहले ज्वर हुआ और फिर सन्निपात के लक्षण देख पड़ने लगे। बहुत शीघ्र चले आने के लिए उपेन्द्र के पास तार गया। बड़ी कोशिश से छुट्टी लेकर जब उपेन्द्र आया तब कालीप्रसन्न की दशा बहुत ही ख़राब हो चुकी थी।

मरने के पहले कालीप्रसन्न ने नाबालिग़ लड़के की देख-रेख का काम उपेन्द्र को सौंपकर अपनी चौथाई सम्पत्ति कन्या के नाम लिख दी।

सम्पत्ति की देखरेख और बालक की रक्षा के लिए उपेन्द्र को नौकरी छोड़कर चले आना पड़ा।

बहुत दिनों के बाद स्वामी और स्त्री का फिर मिलन हुआ। कोई जड़ पदार्थ अगर टूट जाय तो वह ठीक-ठीक—जोड़ से जोड़ मिलाकर—जोड़ा जा सकता है। किन्तु दो आदमी जहाँ से अलग होते हैं वहीं पर, बहुत दिनों की जुदाई के बाद, उनका पूर्णरूप से मिलना बिल्कुल असम्भव हो जाता है। क्योंकि मन एक सजीव पदार्थ है। उसमें परिस्थिति और परिवर्त्तन दम भर में हो जाता है।

इस नवीन मिलन से नलिनी के हृदय में नये भाव का सञ्चार हुआ। उसका मानो फिर नये सिरे से ब्याह हुआ।

चिरकाल के अभ्यास के कारण पुराने स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध में जो एक प्रकार की जड़ता पैदा हो गई थी वह विरह के आकर्षण से दूर हो गई। उसने मानो पहले की अपेक्षा सम्पूर्ण भाव से स्वामी को पाया। उसने मन में प्रतिज्ञा की कि चाहे जैसा दिन आवे, चाहे जितने दिन बीतें, मैं स्वामी के प्रति बढ़े हुए अपने इस प्रेम की उज्ज्वलता को किसी तरह मलिन न होने दूँगी।

किन्तु इस नवीन मिलन से उपेन्द्र के मन की दशा और तरह की हुई। पहले जब दोनों एक ही जगह थे, बिछोह नहीं हुआ था, स्त्री के साथ सारे स्वार्थ और विचित्र अभ्यास का ऐक्यबन्धन था, तब स्त्री उनके लिए एक नित्य सत्य पदार्थ थी। उसे छोड़ने से उसके नित्य प्रति के काम नहीं हो सकते थे। इसी कारण परदेश जाने पर उपेन्द्र वैसा ही व्याकुल हुआ था जैसे पैर फिसल जाने से कोई गहरे पानी में जाकर गोते खाने लगे। किन्तु क्रमशः पुराना अभ्यास छूट चला। नया अभ्यास हो गया।

केवल यही नहीं। पहले बिलकुल बेखटके बिना किसी चेष्टा के उसका दिन कट जाता था। किन्तु इधर दो वर्षों से दशा की उन्नति करने की चेष्टा उसके मन में इतने प्रबल भाव से जग उठी कि उसे और किसी बात पर ध्यान देने का ख़याल ही नहीं रहा। इस नये नशे की तीव्रता की तुलना में उसे पहले का जीवन वस्तुहीन छाया के समान जँचने लगा।

चाहता। तब वह अपने भाई को बड़ी सावधानी से पति की नज़र से बचाकर रखने लगी। वह स्वामी की स्नेहहीन खीझ और कुढ़ने की दृष्टि से उस बच्चे को अलग रखने की चेष्टा करती थी। इस तरह वह बच्चा उसके हृदय की सामग्री—उसके स्नेह का सर्वस्व हो उठा। यह सभी को मालूम है कि स्नेह जितना ही छिपे तौर का होता है उतना ही प्रबल होता है।

नीलमणि रोता था तो उपेन्द्र बहुत ही खीझ उठता था—तब नलिनी उसे छाती से लगाकर पुचकारकर चुप कराने लगती थी। ख़ास कर रात को नीलमणि के रोने से अगर उपेन्द्र की नींद में विघ्न पड़ता तो वह उस रो रहे बालक के प्रति अत्यन्त हिंस्र भाव से घृणा प्रकाशित कर गरज उठता था। नलिनी अपराधिनी की तरह संकुचित होकर घबरा जाती थी—उसी समय भाई को गोद में ले दूर हट जाती और "मेरा लाल, मेरा हीरा" कहकर उसे सुलाने की चेष्टा करती थी।

लड़कों में परस्पर छोटी-छोटी बातों में झगड़ा-बखेड़ा हो ही जाता है। नलिनी पहले ऐसी दशा में भाई की तरफ़-दारी करके अपने लड़कों को दण्ड देती थी, क्योंकि नीलमणि के मा न थी। इस समय विचारक के साथ-साथ दण्ड-विधि भी बदल गई। इस समय सदा बिना अपराध और विचार के नीलमणि को कठिन दण्ड भोगना पड़ता था।

वह अन्याय नलिनी को बहुत बुरा लगता था। इसी से वह दण्ड पाकर रो रहे भाई को घर के भीतर ले जाकर मिठाई और खिलौने देकर दुलराकर, चूमकर, भरसक सान्त्वना देती थी।

देखा गया कि नलिनी नीलमणि को जितना प्यार करती है उतना ही उपेन्द्र नीलमणि के ऊपर कुढ़ता है। उधर उपेन्द्र जितना ही नीलमणि से घृणा करता है उतना ही नलिनी उसे स्नेह से अपनी छाती से लगाती है।

उपेन्द्र कभी अपनी स्त्री के साथ किसी तरह का कठोर व्यवहार नहीं करता, और नलिनी भी चुपचाप नम्रभाव से प्रीति के साथ स्वामी की सेवा करती है। केवल नीलमणि के बारे में दोनों के हृदयों में घात-प्रतिघात चल रहा था।

इस तरह का गुप्त घात-प्रतिघात प्रकट झगड़े की अपेक्षा बहुत दुस्सह होता है।

३

नीलमणि का सिर उसके शरीर से बढ़कर था। देखने से जान पड़ता था कि विधाता ने एक पतली डण्डी के भीतर फूँक कर उसके सिरे पर बड़ा सा बुल्ला पैदा कर दिया है। डाकृर लोग भी कभी-कभी शङ्का प्रकट करते थे कि यह लड़का भी बुल्ले की तरह क्षणभङ्गुर और क्षणस्थायी होगा। बहुत दिनों तक वह बात करना और चलना न सीख सका। उसका

विषादपूर्ण गम्भीर चेहरा देखकर जान पड़ता था कि उसके मा-बाप अपनी अधिक अवस्था की सारी चिन्ता उसी बालक के सिर पर लाद गये हैं।

बहन के यत्न और सेवा से विपत्तियों से बचता हुआ नीलमणि छः साल का हुआ।

कातिक के महीने में भैया-दूज के दिन नया कुर्ता-टोपी और धोती पहनाकर नलिनी नीलमणि के तिलक दे रही थी कि पूर्वोक्त स्पष्टवादिनी परोसिन तारा ने आकर बात ही बात में नलिनी से झगड़ा ठान दिया।

तारा ने कहा—गुप्त रूप से भाई का सर्वनाश करके इस तरह तिलक लगाने से कोई लाभ नहीं।

सुनकर अचरज, क्रोध और वेदना के मारे नलिनी के ऊपर गाज सी गिर पड़ी। अन्त को उसे तारा की ज़बानी जान पड़ा कि वे दोनों जोरू-ख़सम (नलिनी और उपेन्द्र) आपस में सलाह करके मालगुज़ारी के लिए नीलाम कराकर, अपने फुफेरे भाई के नाम से ख़रीदकर, नाबालिग़ नीलमणि के इलाक़े को हड़प कर लेना चाहते हैं।

सुनकर नलिनी ने कहा—जो लोग ऐसी झूठी अफ़वाह उड़ाते हैं उनके मुँह में कोढ़ चुवे।

नलिनी ने रोते-रोते अपने स्वामी के पास जाकर इस तोहमत का हाल सुनाया।

उपेन्द्र ने कहा—आजकल के दिनों में किसी पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता। महेन्द्र मेरा फुफेरा भाई है। उसी को इलाक़े का काम सौंपकर मैं निश्चिन्त था। मुझे मालूम भी न हुआ कि कब मालगुज़ारी बाक़ी करके नीलाम कराकर उसने हासिलपुर गाँव ख़रीद लिया।

नलिनी ने अचरज के साथ कहा—तो क्या तुम इसकी कुछ तदवीर न करोगे?

उपेन्द्र ने कहा—क्या तदबीर करूँ? तदबीर करने से भी कुछ फल न होगा, केवल धन नष्ट होगा।

स्वामी की बात पर विश्वास करना नलिनी का परम कर्त्तव्य है; किन्तु वह किसी तरह इस बात पर विश्वास न कर सकी। उस समय उसे वह सुख की गृहस्थी, वह प्रेम का जीवन एकाएक अत्यन्त विकट वीभत्स देख पड़ने लगा। जो घर उसे अपना परम आश्रय जान पड़ता था उसको उसने एकाएक निठुर स्वार्थ का फन्दा समझा—उसने उन दोनों भाई-बहनों को चारों ओर से घेर रक्खा है। वह अकेली स्त्री है, किस तरह असहाय नीलमणि की रक्षा कर सकती है। बहुत सोचने पर भी वह कुछ निश्चय न कर सकी। वह जितना ही सोचती थी उतना ही डर और घृणा के साथ ही विपन्न बालक भाई के प्रति असीम स्नेह से उसका हृदय परिपूर्ण होता जाता था। वह मन में सोचने लगी कि मैं अगर उपाय जानती तो लाट साहब के पास अर्ज़ी देकर, महाराज

को पत्र लिखकर, अपने भाई का गाँव बचा लेती। महाराज कभी नीलमणि के सात सौ अट्ठावन रुपये साल के मुनाफ़े का हासिलपुर गाँव न बिकने देते।

इधर नलिनी इस प्रकार एकदम महाराज को लिखकर अपने स्वामी के फुफेरे भाई के कुचक्र से नाबालिग़ भाई की सम्पत्ति बचाने का उपाय सोच रही थी, उधर एकाएक नीलमणि को ज्वर आने लगा। ज्वर के साथ ही बेहोशी का दौरा भी आता था।

उपेन्द्र ने एक वैद्य को बुलाकर दवा का प्रबन्ध किया। नलिनी ने शहर से कोई अच्छा डाकृर बुलाने के लिए कहा। उपेन्द्र ने कहा—क्यों, मोतीलाल का इलाज क्या बुरा है!

नलिनी स्वामी के पैरों पर गिर पड़ी। उसने अपने सिर की क़सम खाकर अच्छा डाकृर बुलाने के लिए कहा। उपेन्द्र ने कहा—अच्छा, शहर से डाकृर लाने के लिए आदमी भेजता हूँ।

नलिनी नीलमणि को छाती से लगाये पड़ी रही। नीलमणि भी उसे दमभर के लिए नहीं छोड़ता था। कहीं छोड़कर चली न जाय, इसी डर से नीलमणि अपनी बहन के लिपटा रहता था। यहाँ तक कि सो जाने पर भी आँचल न छोड़ता था।

दिन भर इसी तरह बीता। सन्ध्या के उपरान्त उपेन्द्र ने आकर कहा—"शहर में एक ही अच्छे डाकृर हैं। वे कहीं दूर पर रोगी को देखने गये हैं।" उसने यह भी कहा

उपेन्द्र ने कहा—आजकल के दिनों में किसी पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता। महेन्द्र मेरा फुफेरा भाई है। उसी को इलाके का काम सौंपकर मैं निश्चिन्त था। मुझे मालूम भी न हुआ कि कब मालगुज़ारी बाक़ी करके नीलाम कराकर उसने हासिलपुर गाँव ख़रीद लिया।

नलिनी ने अचरज के साथ कहा—तो क्या तुम इसकी कुछ तदबीर न करोगे?

उपेन्द्र ने कहा—क्या तदबीर करूँ? तदबीर करने से भी कुछ फल न होगा, केवल धन नष्ट होगा।

स्वामी की बात पर विश्वास करना नलिनी का परम कर्त्तव्य है; किन्तु वह किसी तरह इस बात पर विश्वास न कर सकी। उस समय उसे वह सुख की गृहस्थी, वह प्रेम का जीवन एकाएक अत्यन्त विकट वीभत्स देख पड़ने लगा। जो घर उसे अपना परम आश्रय जान पड़ता था उसको उसने एकाएक निठुर स्वार्थ का फन्दा समझा—उसने उन दोनों भाई-बहनों को चारों ओर से घेर रक्खा है। वह अकेली स्त्री है, किस तरह असहाय नीलमणि की रक्षा कर सकती है। बहुत सोचने पर भी वह कुछ निश्चय न कर सकी। वह जितना ही सोचती थी उतना ही डर और घृणा के साथ ही विपन्न बालक भाई के प्रति असीम स्नेह से उसका हृदय परिपूर्ण होता जाता था। वह मन में सोचने लगी कि मैं अगर उपाय जानती तो लाट साहब के पास अर्ज़ी देकर, महाराज

को पत्र लिखकर, अपने भाई का गाँव बचा लेती। महाराज कभी नीलमणि के सात सौ अट्ठावन रुपये साल के मुनाफ़े का हासिलपुर गाँव न बिकने देते।

इधर नलिनी इस प्रकार एकदम महाराज को लिखकर अपने स्वामी के फुफेरे भाई के कुचक्र से नाबालिग़ भाई की सम्पत्ति बचाने का उपाय सोच रही थी, उधर एकाएक नीलमणि को ज्वर आने लगा। ज्वर के साथ ही बेहोशी का दौरा भी आता था।

उपेन्द्र ने एक वैद्य को बुलाकर दवा का प्रबन्ध किया। नलिनी ने शहर से कोई अच्छा डाक्टर बुलाने के लिए कहा। उपेन्द्र ने कहा—क्यों, मोतीलाल का इलाज क्या बुरा है!

नलिनी स्वामी के पैरों पर गिर पड़ी। उसने अपने सिर की क़सम खाकर अच्छा डाक्टर बुलाने के लिए कहा। उपेन्द्र ने कहा—अच्छा, शहर से डाक्टर लाने के लिए आदमी भेजता हूँ।

नलिनी नीलमणि को छाती से लगाये पड़ी रही। नीलमणि भी उसे दमभर के लिए नहीं छोड़ता था। कहीं छोड़कर चली न जाय, इसी डर से नीलमणि अपनी बहन के लिपटा रहता था। यहाँ तक कि सो जाने पर भी आँचल न छोड़ता था।

दिन भर इसी तरह बीता। सन्ध्या के उपरान्त उपेन्द्र ने आकर कहा—"शहर में एक ही अच्छे डाक्टर हैं। वे कहीं दूर पर रोगी को देखने गये हैं।" उसने यह भी कहा

कि मुक़द्दमे के काम से आज ही मुझे बाहर जाना पड़ेगा। मैं मोतीलाल से कहे जाता हूँ। वे नित्य आकर रोगी को देख जायँगे।

रात को सोते में नीलमणि घोर प्रलाप बकता रहा। सबेरा होते ही नलिनी, बिना कुछ विचार किये, रोगी भाई को लेकर शहर को चल दी। नाव पर चढ़कर वह डाक्टर साहब के घर पहुँची। डाक्टर घर पर ही थे। किसी रोगी को देखने शहर से बाहर न गये थे। उन्होंने किसी अच्छे घर की स्त्री समझकर जल्दी से नलिनी के रहने के लिए मकान ठीक कर दिया और एक बुढ़िया विधवा को उसके पास रख दिया। नीलमणि की चिकित्सा होने लगी।

तीसरे ही दिन उपेन्द्र वहाँ पहुँचा। क्रोध के मारे आग हो रहे उपेन्द्र ने स्त्री से कहा—अभी घर चलो।

"मुझे अगर काट डालोगे तो भी मैं घर न जाऊँगी। तुम लोग मेरे नीलमणि को मार डालना चाहते हो—उसके न मा है, न बाप। मेरे सिवा उसके और कोई नहीं। मैं उसकी रक्षा करूँगी।"

उपेन्द्र ने बिगड़कर कहा—तो यहीं रहो। मेरे घर न आना।

नलिनी ने भी झिड़ककर कहा—घर क्या तुम्हारा है! घर तो मेरे भाई ही का है!

"ख़ैर, यह देखा जायगा!"

गाँव के लोग इस घटना के सम्बन्ध में कुछ दिन तक खूब आन्दोलन करते रहे। परोसिन तारा ने कहा—स्वामी से झगड़ा करना हो तो घर में रहकर करो। घर छोड़कर जाने की क्या ज़रूरत! हज़ार हो, स्वामी ही ठहरे।

पास का रुपया और सब गहना लगाकर नलिनी ने भाई के प्राण बचाये। उसी समय नलिनी को ख़बर मिली कि द्वारी गाँव में जो बड़ा 'जोत' था, जिस जोत पर नलिनी के बाप का घर है, तरह-तरह से जिसकी आमदनी डेढ़ हज़ार रुपये साल के लगभग है, उसी जोत को ज़मींदार से मिलकर उपेन्द्र ने अपने नाम से ख़ारिज़ करा लिया है। इस समय सभी सम्पत्ति उपेन्द्र की है, नीलमणि की नहीं।

आराम होने पर नीलमणि करुण स्वर से कहने लगा—"हमारे उसी घर में चलो न दीदी!" सुनकर नलिनी रोने लगी। उसने मन में कहा—हमारा वह घर अब कहाँ है!

किन्तु केवल रोने से कोई फल नहीं। उस समय दीदी के सिवा उसके भाई के और कोई न था। यह सोचकर आँखों के आँसू पोंछकर नलिनी ने डिपुटी कलेक्टर तारिणी बाबू की स्त्री के पास जाकर अपना सब हाल कह सुनाया।

डिपुटी बाबू उपेन्द्र को जानते-पहचानते थे। भले घर की स्त्री घर से बाहर निकलकर जायदाद के लिए स्वामी से झगड़ा ठानना चाहती है। यह देखकर वे नलिनी के अनुकूल न हुए। नलिनी को अपने यहाँ ठहराकर डिपुटी

साहब ने उपेन्द्र को उसी समय चिट्ठी लिखी। उपेन्द्र आकर ज़बर्दस्ती नलिनी को नीलमणि-सहित घर ले गया।

स्वामी और स्त्री में दूसरा विछोह होने के बाद यह फिर मिलन हुआ! भगवान् की इच्छा!

बहुत दिनों के बाद घर आकर पुराने साथियों को पाकर नीलमणि बड़ी प्रसन्नता और आनन्द के साथ खेलने लगा। उसके उस निश्चिन्त आनन्द को देखकर नलिनी का हृदय फट सा गया।

४

जाड़े के दिनों में मजिस्ट्रेट साहब ज़िले में दौरा करने निकले। शिकार की तलाश में आकर मजिस्ट्रेट ने नलिनी के गाँव में ही डेरा डाला। गाँव की राह में नीलमणि ने साहब को देखा। और बालक, साहब को देखकर, चाणक्य के श्लोक में कुछ परिवर्त्तन करके नख, दाँत, सींगवाले जानवरों के साथियों में साहब का भी शुमार करके दूर हट गये। किन्तु गम्भीर-प्रकृति नीलमणि अटल कौतूहल के साथ शान्त भाव से साहब को निहारने लगा।

साहब को भी कौतुक हुआ। उन्होंने पास आकर नीलमणि से पूछा—तुम स्कूल में पढ़ते हो?

बालक ने चुपचाप सिर हिलाकर जताया—हाँ।

साहब ने पूछा—तुम कौन पुस्तक पढ़ते हो?

नीलमणि पुस्तक शब्द के अर्थ ही न समझ सका। वह चुपचाप मजिस्ट्रेट साहब के मुँह को ताकने लगा।

मजिस्ट्रेट साहब की इस मुलाक़ात का हाल नीलमणि ने बड़े उत्साह के साथ अपनी बहन से कहा।

दोपहर को चपकन-पतलून और पगड़ी पहनकर उपेन्द्र मजिस्ट्रेट साहब को सलाम करने गया। अर्थी, प्रत्यर्थी, चपरासी, सिपाही आदि की चारों ओर बड़ी भीड़ थी। साहब तम्बू में, बाहर खुली जगह में, कैंप-टेबिल डाले बैठे हुए थे। पास ही कुर्सी पर उपेन्द्र भी बैठा था। साहब बहादुर उपेन्द्र से गाँव का हाल पूछ रहे थे। उपेन्द्र अपने गाँव के सब लोगों के आगे इस गौरव के आसन पर बैठकर मन ही मन फूला नहीं समाता था।

इसी समय नीलमणि को साथ लिये घूँघट काढ़े एक स्त्री सीधी मजिस्ट्रेट साहब के सामने आकर खड़ी हो गई। उसने कहा—साहब, मैं अपने इस अनाथ भाई को तुम्हें सौंपती हूँ। तुम इसकी रक्षा करो।

अपने उस पूर्व-परिचित बड़े सिरवाले बालक को देखकर और उस स्त्री को भले घर की औरत समझकर साहब उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा—आप तम्बू में चलिए।

"मुझे जो कुछ कहना है, यहीं कहूँगी।"

उपेन्द्र का चेहरा फीका पड़ गया। वह सटपटा गया। उसका कलेजा धड़कने लगा। कौतूहल के मारे गाँव के

लोग और भी पास आ गये। किन्तु साहब के बेत उठाते ही सब भागे।

तब नलिनी ने भाई का हाथ पकड़कर उस बे-मा-बाप के अनाथ बालक की सारी कहानी आदि से अन्त तक कह सुनाई। उपेन्द्र को बीच-बीच में रोकने का उपक्रम करते देख मजिस्ट्रेट साहब ने गरजकर कहा—"चुप रहो!" मजिस्ट्रेट का मुँह लाल हो आया। उन्होंने बेत के सिरे से कुर्सी छोड़कर खड़े होने का इशारा किया।

उपेन्द्र मन ही मन नलिनी पर कुढ़ता हुआ चुपचाप खड़ा रहा। नीलमणि नलिनी के आँचल में छिपा हुआ चुपचाप सब सुनता रहा।

नलिनी का वक्तव्य समाप्त होने पर मजिस्ट्रेट ने उपेन्द्र से कई प्रश्न किये और उनका उत्तर सुनकर चुपचाप कुछ देर तक सोच-विचार किया। इसके बाद मजिस्ट्रेट ने नलिनी से कहा—यह मुक़द्दमा यद्यपि मेरे इजलास में चल नहीं सकता, तथापि आप निश्चिन्त रहें। इस बारे में जो करना है सो मैं करूँगा। आप अपने भाई को लेकर बेखटके घर जाइए।

"साहब, जब तक मेरे भाई को उसका घर मिल न जाय तब तक उसे लेकर घर जाने की मुझे हिम्मत नहीं होती। इस समय अगर आप इस नाबालिग़ को अपने पास न रक्खेंगे तो और कोई उसकी रक्षा न कर सकेगा।"

"आप कहाँ जायँगी?"

"मैं अपने स्वामी के पास रहूँगी, मुझे कोई चिन्ता नहीं है।"

साहब कुछ मुसकाकर लाचार हो उस बालक को अपने पास रखने पर राज़ी हो गये।

जब नलिनी वहाँ से चलने लगी तब नीलमणि ने उसका आँचल पकड़ लिया। साहब ने कहा—बेटा, तुमको कुछ डर नहीं है—आओ।

घूँघट के भीतर से आँसू बरसाते-बरसाते नलिनी ने कहा—मेरे भाई जा, फिर मैं तुझसे मिलूँगी।

बालक को हृदय से लगाकर, उसके सिर और पीठ पर हाथ फेरकर, किसी तरह अपना आँचल छुड़ाकर नलिनी चली गई। साहब ने बायें हाथ से नीलमणि की कमर पकड़कर आदर और प्यार के साथ उसे अपनी गोद में बिठा लिया। नीलमणि "दीदी रे, दीदी रे" कहकर ज़ोर से रोने लगा। नलिनी ने एक बार दूर से घूमकर देखा। उसका हृदय जैसे फट गया। दाहने हाथ से नीरव सान्त्वना देकर वह चली गई।

उसी बहुत दिनों के परिचित पुराने घर में स्वामी और स्त्री का फिर मिलन हुआ। यह भी भगवान् की इच्छा!

किन्तु यह मिलन बहुत दिनों तक नहीं रहा। क्योंकि इस घटना के कुछ ही दिन बाद एक दिन सबेरे गाँववालों ने ख़बर पाई कि रात को हैजे से नलिनी की मौत हो गई और रात को ही उसकी लाश भी जला दी गई।

इस सम्बन्ध में किसी ने कुछ नहीं कहा। केवल वही परोसिन तारा बीच-बीच में गरज उठना चाहती थी। लेकिन सब लोग "चुप चुप" कहकर उसका मुँह बन्द कर देते थे।

मजिस्ट्रेट साहब के सामने से घर आते समय नलिनी भाई से कह गई थी कि "फिर मैं तुमसे मिलूँगी।" मालूम नहीं, वह अपने उस वादे को कहीं पूरा कर सकी या नहीं।

नन्दकिशोर की कीर्त्ति

लेखक जाति की प्रकृति के अनुसार नन्दकिशोर कुछ झेंपू और मुँहचोर आदमी थे। किसी के सामने ज़ाहिर होने में वे सटपटा जाते थे। घर में बैठे बैठे क़लम चलाने से उनकी नज़र कमज़ोर और पीठ ज़रा कुबड़ी हो गई थी। संसार की अभिज्ञता भी बहुत थोड़ी थी। दुनियादारी के बँधे बोल सहज ही उनके मुँह से न निकलते थे। इसी कारण घर की गढ़ी के बाहर वे अपने को सुरक्षित नहीं समझते थे।

लोग भी उन्हें एक विचित्र ढंग का आदमी समझते थे। इस बारे में लोगों को दोष भी नहीं दिया जा सकता। मान लीजिए, प्रथम परिचय में किसी भले आदमी ने अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा कि "आपसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई" तो नन्दकिशोर कुछ न कहकर अपनी दाहनी हथेली को विशेष रूप से ध्यान देकर देखने लगे। उनके इस भाव का अर्थ यही लगाया जा सकता है कि आपको प्रसन्नता होना कुछ असम्भव नहीं, किन्तु मैं इसी सोच में पड़ा हूँ कि मैं ऐसी झूठी बात किस तरह कहूँ कि आपको देखने से मुझे भी बड़ा आनन्द हुआ।

इसी तरह मान लो, किसी लखपती ने नन्दकिशोर की दावत की। भोजन के समय अपनी नम्रता दिखाते हुए वह

रईस कहने लगा—"यह सामग्री कुछ भी नहीं है! अत्यन्त साधारण है! इसे आप विदुर का साग और सुदामा के तण्डुल समझिए! आपको बड़ा ही कष्ट हुआ।" नन्दकिशोर चुपचाप सुनते रहे। मानो ये बातें इतनी सच हैं कि उनका तनिक भी प्रतिवाद नहीं किया जा सकता।

बीच-बीच में ऐसा भी होता है कि कोई सुशील पुरुष जब नन्दकिशोर को पत्र-द्वारा जताता है कि आपका ऐसा अगाध पाण्डित्य वर्त्तमान समय में दुर्लभ है, और सरस्वती अपने पद्मासन को छोड़कर नन्दकिशोर के कण्ठ में विराजमान हो रही हैं, तब नन्दकिशोर उसका तिल भर भी प्रतिवाद नहीं करते: मानो सचमुच ही सरस्वती देवी उनका कण्ठरोध किये बैठी हुई हैं। नन्दकिशोर को यह जानना चाहिए था कि जो लोग मुँह पर प्रशंसा करते हैं और जो लोग दूसरे के आगे अपनी निन्दा करने लगते हैं वे श्रोता के मुँह से प्रतिवाद की प्रत्याशा करके ही इस प्रकार बिना संकोच के अतिशयोक्ति किया करते हैं—सुननेवाला अगर आदि से अन्त तक सब बातों को बेधड़क स्वीकार कर लेता है तो कहनेवाला अपने को प्रतारित समझकर बहुत ही कुढ़ता है। ऐसी स्थिति में अपनी बात के झूठ साबित होने पर कोई दुखित नहीं होता।

किन्तु घर के आदमियों में नन्दकिशोर का भाव और तरह का था। यहाँ तक कि उनकी स्त्री मोहिनी भी बातचीत में उनसे पेश न पाती। वह बात-बात में कह देती है—"लो,

मैंने हार मान ली।" ज़बान के युद्ध में स्त्री को उसी के मुँह से हारी स्वीकार करा देने की शक्ति कितने पतियों में है!

नन्दकिशोर का जीवन बड़े मज़े में बीत रहा था। मोहिनी को विश्वास था कि विद्या, बुद्धि और क्षमता में उसके स्वामी की बराबरी करनेवाला कोई नहीं। इस बात को पति के सामने कहने में भी उसे कुछ संकोच न था। स्त्री के मुँह से यह बात सुनकर नन्दकिशोर कहते "तुम्हारे एक ही तो स्वामी है, तुलना किसके साथ करोगी?" पति की यह दिल्लगी सुनकर मोहिनी बहुत बिगड़ती थी।

मोहिनी को यही खेद था कि उसके स्वामी की असाधारण योग्यता बाहर प्रकट नहीं होती और स्वामी उसके लिए कुछ चेष्टा भी नहीं करते। नन्दकिशोर जो कुछ लिखते थे उसे छपाते न थे।

मोहिनी बीच-बीच में अनुरोध करके स्वामी के लेख को सुनती थी। जितना ही वह उसे न समझती थी उतना ही अचरज किया करती थी। मान लो, मोहिनी ने तुलसीकृत रामायण, विश्रामसागर, सुखसागर आदि ग्रंथ पढ़े हैं और 'रहस' भी देखा है। किन्तु वह तो सब साफ़-साफ़ समझ में आ जाता है, यहाँ तक कि निरक्षर लोग भी सुनकर समझ लेते हैं। मगर उसके स्वामी के लेख की तरह अज्ञेय अचिन्त्य दुर्बोध होने की योग्यता उसने पूर्वोक्त किसी ग्रन्थ में नहीं देखी।

वह मन ही मन कल्पना करती थी कि यह किताब जब छपेगी और कोई एक अक्षर भी न समझ सकेगा, तब देशभर के लोग कैसे चकित होंगे। उसने हज़ारों बार स्वामी से कहा होगा कि तुम अपनी इस रचना को छपाओ।

नन्दकिशोर उत्तर देते थे कि पुस्तक छपाने के सम्बन्ध में स्वयं भगवान् मनु कह गये हैं "प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला"।

नन्दकिशोर के चार लड़कियाँ थीं; लड़का एक भी नहीं। मोहिनी समझती थी कि इसमें मेरी ही अयोग्यता है। इसी कारण वह अपने को प्रतिभाशाली स्वामी के बिल्कुल ही अयोग्य समझती थी। जो स्वामी बात की बात में ऐसे दुरूह ग्रन्थ लिख सकता है उसकी स्त्री के लड़की के सिवा और कुछ नहीं होता! स्त्री के लिए इससे बढ़कर भोंडापन और क्या हो सकता है!

पहली लड़की जब पिता की छाती तक बढ़ गई तब नन्दकिशोर की बेफ़िकरी कुछ कम हुई। तब उन्हें ख़याल हुआ कि एक-एक करके चार लड़कियों के ब्याह करने होंगे, और उनके लिए बहुत से धन की ज़रूरत है।

एक दिन इसी प्रसङ्ग में मोहिनी ने कहा—तुम अगर ज़रा मन लगाओ तो सब हो जाय।

नन्दकिशोर ने कुछ व्यग्रभाव से कहा—सच! अच्छा, बताओ क्या करूँ?

मोहिनी ने बेधड़क कह दिया—अपनी किताबें छपाओ—चार आदमी तुमको जानें—उसके बाद देखो, रुपये मिलते हैं कि नहीं।

स्त्री के इस आश्वास से नन्दकिशोर को भी कुछ धैर्य हुआ। उनको भी यह जान पड़ा कि मैंने घर में बैठे-बैठे शौकिया जितना लिखा है इसी की आमदनी से महल्ले भर की लड़कियाँ ब्याही जा सकती हैं।

नन्दकिशोर ने पुस्तकें छपाने का प्रबन्ध करने के लिए प्रयाग जाने का विचार किया। यात्रा के समय कठिनाई यह हुई कि मोहिनी अपने निरुपाय, निस्सहाय, यत्न से पाले हुए स्वामी को किसी तरह अकेला छोड़ने को राज़ी नहीं थी। उन्हें खिला-पिलाकर नित्य-नैमित्तिक कर्त्तव्यों की याद दिलाकर संसार के विविध उपद्रवों से उनकी रक्षा कौन करेगा?

किन्तु अनभिज्ञ स्वामी भी अपरिचित विदेश में स्त्री और कन्याओं को साथ ले जाने में बड़े भारी डर की आशंका से किसी तरह राज़ी न थे। अन्त को हारकर मोहिनी ने घर के पुराने चतुर नौकर को स्वामी के नित्य के अभ्यास के सम्बन्ध में सैकड़ों उपदेश देकर अपनी जगह पर नियुक्त कर दिया। मोहिनी ने स्वामी को बहुत सी सिर की क़समें दिलाकर और बहुत से यन्त्र-मन्त्रों से सुरक्षित कर विदेश को रवाना कर दिया। इसके बाद वह घर में पछाड़ें खा-खाकर गिरने और रोने लगी।

प्रयाग आकर कई पूर्व-परिचितों की सहायता से नन्द-किशोर ने अपनी एक रचना को "वेदान्त-प्रभाकर" के नाम से छपाकर प्रकाशित किया। मोहिनी के गहने रेहन रखकर जो कुछ रुपये नन्दकिशोर लाये थे उनमें से आधे से अधिक इसी में खर्च हो गये।

नन्दकिशोर ने बिक्री के लिए हर एक बड़े बुकसेलर और पत्र-सम्पादक के यहाँ वेदान्तप्रभाकर की एक-एक कापी भेज दी। डाक से रजिस्ट्री करके एक कापी मोहिनी के पास भी भेजी। डर था कि कहीं डाक से पैकेट गुम न हो जाय।

मोहिनी ने, जिस दिन छपी किताब के टाइटिल पर बड़े-बड़े अक्षरों में स्वामी का नाम छपा हुआ देखा उस दिन महल्ले की सब औरतों को बुलाकर गाने-बजाने का उत्सव किया। जहाँ सबके आकर बैठने की जगह थी वहीं पर वेदान्तप्रभाकर की कापी डाल रक्खी।

सबके आकर बैठने पर मोहिनी ने ज़ोर से बड़ी लड़की से कहा—"बिट्टी, वह किताब किसने वहाँ फेंक दी है! उठा दे, मैं रखदूँ।" बिट्टी पढ़ना-लिखना जानती थी। मोहिनी ने पुस्तक उठाकर आले पर रख दी।

दमभर के बाद कोई चीज़ उतारने के मिस से मोहिनी ने उस पुस्तक को फिर नीचे गिरा दिया। इसके बाद बिट्टी को पुकारकर कहने लगी—जान पड़ता है, बाबू की किताब पढ़ने को जी चाहा है? अच्छा लो, पढ़ो, मगर मैली न करना।

बिट्टी को बाप की पुस्तक पढ़ने की बिल्कुल इच्छा न थी।

थोड़ी देर के बाद बिट्टी को डाँटकर मोहिनी ने कहा— यह क्या करती है, ख़राब कर डालेगी! दे, चुन्नी दिदिया को दे दे, वे आलमारी के भीतर रख देंगी।

पुस्तक में अगर कुछ भी जान होती तो उसी दिन के उपद्रव से वेदान्त का प्राणान्त हो जाता।

एक-एक करके पत्रों में पुस्तक की समालोचना निकलने लगी। मोहिनी ने जो कुछ सोचा था वह अधिकांश सत्य निकला। ग्रन्थ के एक भी अक्षर को न समझ सकने के कारण देश भर के समालोचक एकदम भक्तिविह्वल हो उठे। सभी ने एक स्वर से कहा कि ऐसा सारांशपूर्ण ग्रन्थ पहले और कोई प्रकाशित नहीं हुआ।

जो समालोचक रिनाल्ड के लन्दन-रहस्य के अनुवाद को छोड़कर और कोई किताब छू नहीं सकते उन्होंने बड़े उत्साह के साथ लिखा कि देश में जो ढेर के ढेर नाटक-नाविल लिख कर प्रकाशित किये जाते हैं उनके बदले अगर साल दो साल में ऐसा एक भी मौलिक ग्रन्थ लिखा जाय तो सचमुच हिन्दी-साहित्य की विशेष श्रीवृद्धि हो सकती है।

जिस व्यक्ति ने पीढ़ी दर पीढ़ी से कभी वेदान्त का नाम भी नहीं सुना उसी ने केवल यह लिखा कि नन्दकिशोरजी के साथ सभी स्थानों में हमारा मत नहीं मिलता; स्थानाभाव के कारण इस जगह पर उन स्थलों का उल्लेख असम्भव है।

यदि उनका कहना सत्य होता तो हम निस्संशय होकर कह देते कि उस ग्रन्थ को जला डालना ही ठीक था।

देश भर की लाइब्रेरियों के मन्त्री मुद्रा (रुपये) के बदले मुद्रांकित (मोहर लगे) पत्र भेज-भेजकर नन्दकिशोर से मुफ़्त पुस्तकें माँगने लगे। उनमें से अधिकांश ने लिख भेजा कि आपके इस विचार-पूर्ण ग्रन्थ ने देश के एक भारी अभाव को दूर किया है। विचार-पूर्ण ग्रन्थ किसे कहते हैं, सो नन्दकिशोर की समझ में नहीं आया। किन्तु उन्होंने गद्गद होकर अपने पास से टिकट लगाकर हर एक लाइब्रेरी को वेदान्तप्रभाकर भेज दिया।

इसी तरह लगातार अपरिमित स्तुति से नन्दकिशोर जिस समय फूले नहीं समाते थे उसी समय घर से चिट्ठी आई। उसे पढ़ने से मालूम हुआ कि बहुत शीघ्र मोहिनी के पाँचवीं सन्तान होनेवाली है। तब नन्दकिशोर उन दूकानदारों के यहाँ, जिन्हें अपनी पुस्तक कमीशन पर बेचने के लिए दी थी, धन-संग्रह के लिए चले।

सब दूकानदारों ने यही कहा कि एक भी कापी नहीं बिकी। केवल एक जगह सुन पड़ा कि देहात से किसी ने एक कापी मँगाई थी, और उसको वी० पी० भेजा भी गया था। लेकिन वह वी० पी० लौट आया है, किसी ने उसको लिया ही नहीं। दूकानदार को उसका महसूल दण्ड देना पड़ा; इसी से बहुत नाराज़ होकर वह ग्रन्थकार को सब कापियाँ लौटा देने के लिए तैयार हुआ।

ग्रन्थकार ने डेरे पर आकर बहुत सोच-विचार किया, किन्तु उनकी समझ में कुछ भी न आया। अपने विचार-पूर्ण ग्रन्थ के सम्बन्ध में जितनी ही चिन्ता की उतना ही अधिक चिन्तित होने लगे। अन्त को, जो कुछ रुपये पास बचे थे उन्हें ही लेकर नन्दकिशोर घर को रवाना हुए।

नन्दकिशोर ने स्त्री के सामने आकर अत्यन्त आडम्बर के साथ प्रसन्नता प्रकट करने की चेष्टा की। मोहिनी मुसकाती हुई शुभसंवाद की प्रतीक्षा करने लगी।

तब नन्दकिशोर ने एक 'चित्तरञ्जन' की संख्या लाकर स्त्री के आगे रख दी। पढ़कर मोहिनी ने मन ही मन सम्पादक के "दूधों नहाने पूतों फलने" की कामना की। मोहिनी ने मन ही मन कहा—सम्पादक की लेखनी अजर-अमर हो। पढ़ चुकने पर उसने स्वामी के मुँह की ओर देखा।

स्वामी ने तब "नवप्रभात" की एक संख्या स्त्री के हाथ में दी। पढ़ने के उपरान्त आनन्द से विह्वल हो रही मोहिनी ने फिर स्वामी को प्रत्याशा-पूर्ण दृष्टि से देखा।

अब नन्दकिशोर ने "उपदेशक" की एक संख्या दी। इसके बाद ? इसके बाद क्रमशः "भारतभाग्यचक्र", "शुभ जागरण", "अरुणालोक", "संवाद-तरङ्गभङ्ग", "आशा", "विद्या", "उत्साह", "उच्छ्वास", "पुष्पमाधुरी", "सह-चरी", "सीतागज़ट", "अहल्यालाइब्रेरीप्रकाशिका", "ललित-

समाचार", "भारतोद्धारक", "विश्वविचारक" आदि पत्रों के ढेर लग गये। हँसते-हँसते मोहिनी की आँखों से आनन्द के आँसू गिरने लगे।

आँखें पोंछकर फिर मोहिनी ने स्वामी के कीर्त्ति-किरणसमुज्ज्वल मुख की ओर निहारा। स्वामी ने कहा—अभी बहुत से समाचारपत्रों की समालोचना बाक़ी है।

"उन्हें शाम को देखूँगी, अब और हाल बतलाओ।"

"रास्ते में एक दोस्त से मालूम हुआ कि लाट साहब की मेम ने एक किताब लिखी है, पर उसमें "वेदान्तप्रभाकर" का कुछ भी उल्लेख नहीं है।"

"यह मैं नहीं पूछती। क्या लाये?"

"कुछ प्रशंसा की चिट्ठियाँ हैं।"

तब मोहिनी ने स्पष्ट करके पूछा—रुपये कितने लाये?

"एक मित्र से पाँच रुपये उधार लाया हूँ।"

अन्त को मोहिनी ने जब सब वृत्तान्त सुना तब पृथ्वी भर की साधुता के सम्बन्ध में उसका विश्वास जाता रहा। अवश्य ही या तो दूकानदारों ने उसके स्वामी को धोखा दिया है या हिन्दी-भाषी लोगों ने एका करके दूकानदारों को छकाया है।

इधर मोहिनी की गृहस्थी की चिन्ता दिन-दिन बढ़ने लगी। जब धनोपार्जन का ऐसा सहज अमोघ उपाय व्यर्थ हुआ तब अपने लड़की ही लड़की पैदा करने का अपराध

दुर्बुद्धि

पुरखों की देहली छोड़नी पड़ी। क्यों छोड़नी पड़ी, सो खुलासा नहीं कहूँगा। उसका कुछ आभास ही दूँगा।

मैं एक क़सबे में डाकृरी करता था। पुलीस के थाने के सामने ही मेरा घर था। यमराज के साथ मेरी जैसी पटती थी उससे भी कुछ बढ़कर, दारोग़ा साहब से मेल था। अतएव नर और नारायण की जोड़ी से जगत् का जितना उपकार हो सकता है उसे मैं बख़ूबी जानता था। जैसे रत्न से आभूषण की और आभूषण से रत्न की शोभा होती है वैसे ही मेरी मध्यस्थता से दारोग़ा की और दारोग़ा की मध्य-स्थता से मेरी उत्तरोत्तर आर्थिक श्रीवृद्धि होने लगी।

इन्हीं घनिष्ठ कारणों से वर्त्तमान नियम के अनुसार सुशि-क्षित अँगरेज़ीदाँ दारोग़ा जगन्नाथप्रसाद के साथ मेरी गहरी दोस्ती थी। उनके यहाँ उन्हीं की रिश्तेदार एक लड़की रहती थी। उसके और कोई न था। दारोग़ा साहब उससे ब्याह कर लेने के लिए मुझसे प्रायः कहा करते थे।

मेरे एक लड़की थी। उसका नाम था चुन्नी। उसकी माता मर गई थी। अपनी दुलारी लड़की मुझसे सौतेली मा को नहीं सौंपी गई। हर साल कितने ही मुहूर्त्त निश्चित होकर

भी टल जाते थे। मेरे सामने ही कितने योग्य और अयोग्य वर मियाने में चढ़कर ब्याहने के लिए गये। किसी-किसी बारात में दावत खाकर मैं भी जैसे का तैसा अपने घर लौट आया।

चुन्नी बारह वर्ष की हो गई। तेरहवाँ लगा। मुझे आशा थी कि मैं शीघ्र ही इतना रुपया जमा कर लूँगा कि किसी अच्छे बड़े घर में बेटी का ब्याह कर दूँगा। यह काम पूरा होते ही, और एक शुभ काम की तैयारी में मन लगा सकूँगा।

इन्हीं बातों पर विचार कर रहा था कि मुंशीगंज के केदारनाथ सुकुल आकर मेरे पैर पकड़कर रोने लगे। उनसे मालूम हुआ कि उनकी विधवा कन्या रात को एकाएक मर गई है। केदारनाथ के शत्रुओं ने थानेदार को एक गुमनाम चिट्ठी लिखी कि उस लड़की के गर्भ रह गया था और गर्भ गिराने में ही उसकी जान गई है। इस समय पुलीस केदारनाथ को तङ्ग कर रही है और लाश को जाँच के लिए अस्पताल ले जाना चाहती है।

ताज़े कन्या के शोक के ऊपर इतना बड़ा अपमान केदारनाथ के लिए असह्य है। मैं डाक्टर भी हूँ, और दारोग़ा का दोस्त भी। इसी से वे मेरी शरण में आये हैं।

लक्ष्मीदेवी जब चाहती हैं तब इसी तरह, बिना बुलाये, कभी सदर दरवाज़े से और कभी खिड़की से आ जाती हैं।

मैंने सिर हिलाकर कहा—मामला बेढब है। दो-एक कल्पित उदाहरण भी दिये। काँपते हुए बुड्ढे केदारनाथ बच्चे की तरह रोने लगे।

विस्तार से कहने की ज़रूरत नहीं, बेटी की लाश जलाने की सुविधा प्राप्त करने में केदारनाथ को फ़क़ीर हो जाना पड़ा।

मेरी कन्या चुन्नी ने आकर करुण स्वर से पूछा—"बाबू, वह बुड्ढा तुम्हारे पैर पकड़कर क्यों इस तरह रो रहा था?" मैंने उससे डाँटकर कहा—जा, जा, तुझे इन बातों से क्या मतलब?

इस मामले में रुपया मिल जाने से किसी अच्छे घराने में लड़की ब्याहने का सुभीता हो गया। वर पहले ही से खोज रक्खा था। ब्याह का दिन भी निश्चित हो गया। एक ही लड़की थी; और कोई लड़का-बाला न था। धूमधाम में कुछ कसर न रक्खी। घर में स्त्री न थी। परोसियों ने—ख़ासकर दारोग़ा साहब के घर की औरतों ने दया करके बड़ी सहायता की। जिसको मैंने फ़क़ीर कर दिया था उन कृतज्ञ केदारनाथ ने भी बहुत मेहनत की।

'तेल' के दिन रात के तीन बजे से चुन्नी की तबियत बहुत ख़राब हो गई। उसे हैज़ा हो गया। रोग धीरे-धीरे असाध्य हो चला। बहुत चेष्टा करने के उपरान्त निष्फल दवाओं की शीशियाँ ज़मीन में पटककर मैं केदारनाथ के पास दौड़ा गया। जाकर उनके पैरों पर गिर पड़ा और कहने लगा—

क्षमा करो भाई, मुझ पापी को क्षमा करो। मेरे एक ही लड़की है।

केदारनाथ ने घबराकर कहा—डाकूर साहब, आप यह क्या करते हैं! मुझ पर आपका बड़ा भारी ऋण है—आप मेरे पैर न छुएँ।

"बिना किसी अपराध के आपका सर्वनाश करने के कारण ही आज मेरी कन्या मर रही है।" सब लोगों के सामने ही मैं रोते हुए चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा कि भाई, मैंने इस भले आदमी का सर्वनाश किया है। मैं उसका दण्ड अपने सिर पर लेने को तैयार हूँ, भगवान् मेरी चुन्नी की रक्षा करें!

अब मैं बूढ़े केदारनाथ की जूतियाँ उठाकर अपने सिर पर मारने लगा। बूढ़े ने सटपटाकर मेरे हाथ से जूती छीन ली।

दूसरे दिन दस बजे चुन्नी इस लोक से चल बसी।

उसके दूसरे ही दिन दारोग़ा साहब ने कहा—अजी, अब काहे की देर है, ब्याह कर न डालो! बिना ब्याह किये तुम्हारा गुज़र नहीं हो सकता।

मनुष्य के अति दारुण दुःख-शोक के प्रति ऐसी निठुर अश्रद्धा प्रकट करना शैतान को भी नहीं सोहता। किन्तु कई मामलों में दारोग़ा को मैं ऐसे मनुष्यत्व का परिचय दे चुका था कि कुछ कहने की गुंजाइश न थी। दारोग़ा की दोस्ती ने उस दिन चाबुक सा मारकर मेरा अपमान किया!

हृदय में चाहे जितनी व्यथा हो, कर्मचक्र बराबर चलता ही रहता है! मेरा भी खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना सब काम पहले की तरह होता रहा।

नित्य के काम-काज से छुट्टी मिलने पर जब मैं अकेला बैठता तब वही चुन्नी का करुण-प्रश्न कानों में गूँजने लगता "बाबू, वह बुड्ढा तुम्हारे पैर पकड़कर क्यों इस तरह रो रहा था?" मैंने ग़रीब केदारनाथ के घर की मरम्मत अपने ख़र्च से करा दी। अपनी दुधार गाय उन्हें दे डाली। उनकी जो कुछ ज़मीन रेहन हो गई थी वह भी छुड़ा दी।

कुछ दिन तक ताज़े शोक की दुस्सह वेदना के मारे सन्नाटे में सन्ध्या के समय और रात को मुझे यही जान पड़ता था कि परलोक में भी चुन्नी को, पिता के निठुर कुकर्म के कारण, शान्ति नहीं मिलती। वह मानो व्यथित होकर बारम्बार मुझसे यही प्रश्न करती है—बाबू, तुमने ऐसा क्यों किया?

कुछ दिन तक ऐसा हो गया कि किसी ग़रीब की दवा करके उससे कुछ लेने को जी न चाहता था। किसी छोटी लड़की के बीमार होने पर जान पड़ता था, मानो मेरी चुन्नी ही रोग भोग रही है।

बरसात में पानी बरसने से गाँव के चारों ओर पानी ही पानी देख पड़ता था। उस दिन भी सबेरे से पानी बरस रहा था।

ज़मींदार के यहाँ से बुलौआ हुआ। मुझे लेने को उनके यहाँ से डोंगी आई थी। मल्लाह बार-बार मुझसे जल्दी करने के लिए कह रहा था।

पहले अगर कभी ऐसे समय में मुझे बाहर जाना पड़ता तो चुन्नी छाता लाकर मुझे देती थी और आँधी-पानी से अपनी बचत के लिए वार-वार सावधान कर देती थी। आज सूने घर में मुझे ही छाता खोजना पड़ा और साथ ही चुन्नी की याद आ जाने से आँखों में आँसू भर आये। किसी तरह आँसू पोंछकर मैं बाहर आया।

डोंगी थाने के नीचे के घाट पर बँधी हुई थी। वहाँ आकर मैंने देखा, एक किसान लँगोटी मारे खड़ा हुआ पानी में भीग रहा है। मैंने पूछा—"क्या है रे ?" मालूम हुआ, कल रात के समय उसकी लड़की को साँप ने डस लिया है। वह अभागा किसी दूर के गाँव से रिपोर्ट करने थाने में आया है। उसके साथ लाश भी थी। मैंने देखा कि उसने अपनी धोती खोलकर उससे उस लाश को ढक रक्खा है। ज़मींदार के बिगड़दिल मल्लाह ने चट डोंगी खोल दी।

मैं एक बजे के समय वहाँ से लौट आया। उस समय भी देखा कि वह आदमी लाश के पास बैठा हुआ पानी में भीग रहा है। अभी तक उसे दारोग़ा साहब के दर्शन नहीं मिले। मैंने घर जाकर उसके खाने के लिए कुछ पूरी तर-कारी भेज दी। पर उसने उसे छुआ तक नहीं।

जल्दी से भोजन करके मैं फिर ज़मींदार के रोगी को दवा देने गया। शाम को वहाँ से लौटने पर भी देखा कि वह आदमी जहाँ का तहाँ बैठा हुआ है। पूछने पर कुछ जवाब नहीं दे सकता, केवल मुँह की ओर ताकता है। जान पड़ा कि इस समय उसे वह नदी, वह गाँव, वह थाना और बदली से घिरी हुई जलपरिपूर्ण पृथ्वी—सब स्वप्न के समान जान पड़ रहा है। बार-बार पूछने पर मालूम हुआ कि "एक बार एक सिपाही ने आकर पूछा था कि टेट में भी कुछ है ?" किसान ने कहा—"मैं बहुत ही ग़रीब हूँ, मेरे पास एक पैसा भी नहीं।" सिपाही यह कहकर चला गया—तो फिर योंही बैठे रहो बेटा।

ऐसा दृश्य मेरे लिए कुछ नया न था। थाने में अक्सर ऐसी बातें देखने को मिलती थीं। किन्तु आज मुझसे यह दृश्य न देखा गया। मेरी चुन्नी का करुणागद्गद अस्पष्ट स्वर सारे आकाश में जैसे व्याप्त हो गया। कन्या-शोकग्रस्त और निरुपाय किसान का अपरिमित दुःख मुझे पीड़ित करने लगा।

दारोग़ा साहब बेत के मोढ़े पर बैठे आराम से चुरट पी रहे थे। बेटी के ब्याह के लिए चिन्तित उनके एक नातेदार अपनी चिन्ता मेरे गले मढ़ने के लिए आज ही आये थे। पास ही चटाई पर बैठे हुए वे दारोग़ा से बातचीत कर रहे थे। मैं एकदम आँधी की तरह झपटता हुआ वहाँ पहुँचा।

मैंने चिल्लाकर "आप आदमी हैं या पिशाच ?" कहकर दिन भर की कमाई के पाँच रुपये दारोग़ा साहब के सामने फेंक दिये और कहा—अगर रुपये चाहिए तो ये लीजिए, जब मरिएगा तब साथ ले जाइएगा। इस बेचारे किसान को छुट्टी दीजिए। बेचारा अपनी लड़की की लाश को ठिकाने लगा आवे !

बहुत से सताये गये लोगों के आँसुओं से सिंचकर दारोग़ा के साथ मेरी दोस्ती की बेल जो लहलहा उठी थी वह इस झोंके में जड़ से उखड़ गई।

थोड़ी देर बाद दारोग़ा के पैर पकड़े, सुशीलता और सज्जनता का उल्लेख करके उनकी बहुत ख़ुशामद की और अपनी मूर्खता का उल्लेख करके अपने को अनेक धिक्कार दिये; मगर अन्त को मुझे अपने बाप-दादे की देहली छोड़नी ही पड़ी।

आफ़त

सन्ध्या के समय आँधी बड़े ज़ोर से चलने लगी। पानी के झोंके, बादलों का गरजना, और बिजली की चमक देखकर जान पड़ता था, आकाश में देवासुर-संग्राम हो रहा है। काले-काले बादल महाप्रलय की विजयपताका के समान इधर-उधर उड़ने लगे। नदी के इस पार और उस पार लहरें बड़े वेग से नाचने लगीं। बड़े-बड़े पेड़ अपनी शाखाएँ हिला-हिलाकर—ज़मीन तक झुक-झुककर—कहरवा नाच नाचने लगे।

इसी समय नदीतट पर, बाग़ के भीतर बने हुए, एक घर के भीतर के कमरे में बैठे हुए एक मर्द और स्त्री में इस तरह बातचीत हो रही थी।

गोपीनाथ—और कुछ दिन यहाँ रहने से तुम बिल्कुल आराम हो जाओगी, तब हम लोग अपने घर चल सकेंगे।

गङ्गादेई—मैं बिल्कुल आराम हो गई हूँ, अब घर चलो।

जिनका ब्याह हो गया है वे समझ सकते हैं कि जितने संक्षेप में यह बातचीत यहाँ लिखी गई है उतने ही में उसका अन्त नहीं हुआ। विषय कुछ ऐसा न था कि उसका निर्णय न हो सके, तथापि वाद-प्रतिवाद इतना बढ़ा कि उसका

निर्णय होना कठिन हो गया। अन्त को जब गङ्गादेई की आँखों में आँसू भर आये तब गोपीनाथ ने कहा—मुझे तो घर चलने में कुछ उज्र नहीं, लेकिन डाक्टर साहब कहते हैं कि अभी यहाँ रहने की ज़रूरत है।

गङ्गादेई—डाक्टर तो अपने फ़ायदे के लिए यह कहता है।

गोपीनाथ—यह बात नहीं है। इन दिनों देहात में तरह-तरह की बीमारियाँ फैलती हैं। इसी से महीने-दो महीने यहाँ से न जाना ही ठीक होगा।

गङ्गादेई—तो शायद आजकल शहर में कोई बीमार नहीं होता!

यहाँ पर पहले का कुछ हाल लिख देना उचित जान पड़ता है। गङ्गादेई को उसके घर के सब आदमी और गाँव की औरतें—यहाँ तक कि सास भी—बहुत चाहती थीं। इसी कारण गङ्गादेई जब कठिन रोग से पीड़ित हुई तब सबको बड़ी चिन्ता हुई। वैद्य ने आब-हवा बदलने की सलाह दी। घर और काम-काज छोड़कर रोगी के साथ बाहर जाने को गोपीनाथ तैयार हो गये। गङ्गादेई की सास ने भी कुछ रोक-टोक न की। यद्यपि गाँव के समझदार लोगों ने आब-हवा बदलने से आरोग्य की आशा करने को और स्त्री के लिए इतने उद्योग को नई पौध की स्त्री-परवशता और अत्यन्त निर्लज्जता ठहराया, और पूछा कि क्या इससे पहले किसी की स्त्री को कठिन बीमारी नहीं हुई—गोपीनाथ जहाँ स्त्री को लिये जाते हैं

वहाँ के आदमी क्या अमर हैं—और ऐसा कौन देश है जहाँ भाग्य का लिखा मिट सकता हो, तथापि गोपीनाथ और उनकी माता ने लोगों की बातों पर कुछ ध्यान न दिया। उन्हें गाँव भर की समझदारी की अपेक्षा गङ्गादेई के प्राण बहुमूल्य जान पड़े। प्रिय व्यक्ति पर कोई विपत्ति पड़ने पर प्रायः ऐसा ही मोह हो जाता है।

गोपीनाथ स्त्री को साथ ले शहर में आये और उक्त नदीतट के बाग़वाले मकान को किराये पर लेकर रहने लगे। पास ही रहनेवाले एक डाकृर की दवा से अब गङ्गादेई बिल्कुल आराम हो गई है। केवल कुछ-कुछ कमज़ोरी रह गई है। उसके चेहरे पर करुणभाव-पूर्ण दुर्बलता झलकती है। देखनेवाले को जान पड़ता है कि बड़े भाग्य से अबकी उसकी जान बची है।

किन्तु गङ्गादेई का स्वभाव ऐसा था कि किसी साथी और आमोद-प्रमोद के बिना उससे रहा न जाता था। यहाँ उसे अकेले ही रहना पड़ता था। न घर का कामकाज था और न कोई सखी-सहेली थी। इसी से उसे यहाँ अच्छा न लगता था। अपने रोगी शरीर की सेवा और देखरेख करते-करते जी ऊब गया था। आज तीसरे पहर कमरे के भीतर स्वामी और स्त्री में इसी बात पर वाद-प्रतिवाद हो रहा था।

गङ्गादेई जब तक उत्तर देती रही तब तक बराबर दोनों ओर से द्वन्द्वयुद्ध होता रहा। किन्तु अन्त को जब गङ्गादेई ने कुछ उत्तर न देकर स्वामी की ओर से मुँह फेर लिया तब गोपीनाथ

को हार माननी पड़ी। इसी समय बाहर से नौकर ने ज़ोर से पुकारकर कुछ कहा।

गोपीनाथ ने कमरे से बाहर आकर नौकर से सुना कि थोड़ी दूर पर एक नाव डूब गई है। उस नाव पर का एक ब्राह्मण-बालक तैरता हुआ यहाँ किनारे आ लगा है और बाग़ के दरवाज़े पर उपस्थित है।

इस घटना को सुनकर गङ्गादेई सब लड़ाई-झगड़ा भूल गई। उसने जल्दी से एक धोती निकालकर उस बालक के पहनने के लिए भेज दी। फिर उस बालक को गङ्गादेई ने घर के भीतर बुला भेजा।

उस लड़के के लम्बे लम्बे बाल और बड़ी-बड़ी आँखें थीं। उस दिन गङ्गादेई ने उसे अपने आगे बिठाकर भोजन कराया।

पूछने पर गङ्गादेई को मालूम हुआ कि वह एक "धनुष-यज्ञ" आदि लीलाएँ खेलनेवाली मण्डली का लड़का है। पास के गाँव में "धनुष-यज्ञ" खेलने के लिए मण्डली बुलाई गई थी। नाव पर मण्डली के सब लोग जा रहे थे। इसी बीच नाव डूब गई। मालूम नहीं, मण्डली के और आदमियों की क्या गति हुई। वह लड़का अच्छी तरह तैरना जानता था। इसी से किसी तरह तैरकर अपनी जान बचा सका।

वह लड़का गोपीनाथ के ही पास रह गया। लड़के के मा-बाप कोई नहीं है, यह जानकर गङ्गादेई को उस पर बड़ी दया आई।

गोपीनाथ ने भी मन में कहा—अच्छी बात हुई। काम के बिना बेकार बैठे-बैठे मेरी स्त्री का जी नहीं लगता था। अब उसे एक काम और साथी मिल गया। महीने-पन्द्रह दिन और यहाँ रहने में अब वह कुछ उज्र नहीं करेगी।

महीने भर के बाद गोपीनाथ अपने गाँव में स्त्री-सहित लौट आये। साथ में वह ब्राह्मण-बालक मङ्गल भी था। मङ्गल के भाग्य से और पुण्यसञ्चय की आशा से गोपीनाथ की मा भी उसे देखकर प्रसन्न हुईं। मण्डली के मालिक, और यमराज, के हाथ से निकलकर इस धनी परिवार के हाथ में पड़ने से मङ्गल को भी बड़ी ख़ुशी हुई।

किन्तु कुछ ही दिनों में गोपीनाथ और उसकी माता का मत बदल गया। दोनों मङ्गल से नाराज़ हो गये। उन्होंने उसको घर से बिदा कर देना ही ठीक समझा।

बात यह हुई कि मङ्गल ने चुपके से गोपीनाथ का क़ीमती तेल चुराकर सिर में लगाना और उसी तरह डिबिया से मुश्की तमाखू निकालकर खाना शुरू कर दिया। बरसात के दिनों में वह गोपीनाथ का रेशमी छाता लगाकर नये दोस्त जुटाने के लिए गाँव में गली-गली घूमने लगा। एक गन्दे देहाती कुत्ते को दुलराकर उसने ऐसा मुँह लगा लिया कि वह बिना बुलाये ही गोपीनाथ की सजी हुई बैठक में घुसकर सफ़ेद चाँदनी के ऊपर चारों चरणों की धूल से अपने आने का शुभ संवाद अङ्कित कर आने लगा। देखते ही देखते मङ्गल ने

साथी लड़कों की एक मण्डली खड़ी कर ली। गाँव में जो आम के बाग़ थे उनमें उस साल कच्चे आमों को पकने का अवसर ही न मिला।

इसमें सन्देह नहीं कि गङ्गादेई ने मङ्गल को बहुत सिर चढ़ा लिया था। गोपीनाथ और गोपीनाथ की मा दोनों गङ्गादेई को मना करते थे, पर वह उस पर ध्यान न देती थी। गोपीनाथ की पुरानी टोपी, कुर्ता, कोट, धोती और नया मोज़ा, जूता पहनाकर गङ्गादेई ने मङ्गल को बाबू बना दिया था। बीच बीच में उसको पास बुलाकर गङ्गादेई अपने स्नेह और कौतुक को चरितार्थ करती थी। गङ्गादेई पलँग पर बैठती, दासी उसके सिर में तेल लगाती और चोटी बाँधती थी। मङ्गल नीचे खड़े-खड़े नल-चरित्र, सीता-हरण, धनुष-यज्ञ आदि के चौबोले सुनाता था। इसी तरह दुपहरिया कट जाती थी। गङ्गादेई गोपीनाथ से भी कभी-कभी श्रोता बनने के लिए अनुरोध करती थी, किन्तु गोपीनाथ को वह अच्छा न लगता था; और उनके सामने मङ्गल से अच्छी तरह चौबोले कहते भी न बनता था। गङ्गादेई की सास कभी-कभी 'रामनाम' सुनने की आशा से आकर बैठ जाती थीं। किन्तु सदा से दुपहर में सोने का अभ्यास होने के कारण शीघ्र ही सो जाती थीं।

गोपीनाथ अक्सर मङ्गल के कान मलकर, थप्पड़ मारकर उसे 'ठीक' करने की चेष्टा करते थे। किन्तु उससे भी कठिन

दण्ड सहने का पुराना अभ्यास होने के कारण वह मङ्गल के लिए मामूली बात थी। मङ्गल को विश्वास था कि पृथ्वी के जल-स्थल-विभाग की तरह मनुष्य-जन्म के भी दो विभाग हैं—आहार और प्रहार; और उसमें भी प्रहार का अंश ही अधिक है।

मङ्गल की क्या अवस्था होगी, यह ठीक-ठीक बतलाना कठिन है। अवस्था तो उसकी सत्रह वर्ष की होगी, पर देखने में वह बारह वर्ष का ही जँचता था। असल बात यह है कि थोड़ी अवस्था से ही उस मण्डली में मङ्गल सखी बना करता था। मण्डली की आवश्यकता के अनुसार विधाता की कृपा से मङ्गल का शरीर बहुत बढ़ा नहीं। वह देखने में छोटा जान पड़ता था और अपने को भी छोटा ही जानता था। अवस्था के अनुरूप सम्मान उसे किसी से नहीं प्राप्त होता था। इन्हीं सब स्वाभाविक और अस्वाभाविक कारणों के प्रभाव से सत्रह वर्ष की अवस्था में भी वह बारह वर्ष का जान पड़ता था। मसें न भीगने के कारण यह भ्रम और भी दृढ़ हो गया था। मण्डली के लोगों के साथ में पड़कर मङ्गल बचपन से तम्बाकू भी पीने लगा था। इस कारण हो, या अवस्था के अयोग्य भाषा का प्रयोग करने से हो, मङ्गल के ओठों के पास का स्थान कुछ अधिक रूखा जान पड़ता था। किन्तु उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में सरलता और जवानी का भाव झलकता था। मण्डली की हवा लगने से

ऊपर कुछ-कुछ परिपाक के लक्षण देख पड़ने पर भी मङ्गल का हृदय स्वाभाविक रूप से कच्चा ही था।

गोपीनाथ के यहाँ रहते समय मङ्गल के ऊपर 'स्वभाव' का नियम बराबर अपना प्रभाव डालने लगा। अब तक वह एक वयःसन्धि की अवस्था में अस्वाभाविक रूप से रुका हुआ सा था। गोपीनाथ के घर आने पर न-जाने कब चुपचाप वह रुकावट दूर हो गई। उसकी सत्रह-अठारह वर्ष की अवस्था स्पष्ट लक्षित होने लगी।

यद्यपि बाहर से उसका यह परिवर्त्तन किसी ने लख नहीं पाया, किन्तु उसका प्रथम लक्षण यही कहा जा सकता है कि जब गङ्गादेई मङ्गल के साथ बालकों के योग्य व्यवहार करती थी तब वह अपने मन में लज्जित और व्यथित होता था। एक दिन रसिक प्रकृतिवाली गङ्गादेई ने मङ्गल से सखी बनने के लिए कहा तो वह बात उसे बहुत ही कष्ट पहुँचानेवाली जान पड़ी। किन्तु उस तरह बुरा मानने का कोई उपयुक्त कारण उसे खोजे नहीं मिला। इन दिनों अगर गङ्गादेई उससे चौबोला सुनाने के लिए कहती तो वह इधर-उधर टल जाया करता। इस बात को उसका मन किसी तरह स्वीकार न करता कि वह एक नाचने-गानेवाले लड़के के सिवा और कुछ नहीं है।

यहाँ तक कि उसने कुछ पढ़ने-लिखने का भी विचार किया। किन्तु मन लगाकर पढ़ने-लिखने का अभ्यास न

होने के कारण पुस्तक के अक्षर उसकी आँखों के आगे से चींटियों की क़तार की तरह निकल जाते थे। गाँव के पास बहनेवाली नदी के किनारे पीपल के पेड़ के नीचे, उसकी जड़ के सहारे, बैठकर पुस्तक को गोद में खोलकर वह देर तक बैठा रहता था। जल छलछल करता हुआ बहता था, एक-आध नाव सामने से निकल जाती थी, वृक्ष की डालों में ऊपर चञ्चल पक्षी अस्पष्ट और विचित्र बोलियाँ बोलते थे। उस समय मङ्गल पुस्तक में नज़र गड़ाकर क्या सोचता था, सो वही जाने, या वह भी नहीं जानता था। एक शब्द से दूसरे शब्द तक वह किसी तरह नहीं पहुँच पाता था। तथापि "मैं पढ़ता हूँ" यह समझकर वह एक प्रकार के गौरव का अनुभव करता था। घाट होकर जब कोई आदमी निकलता तब वह और भी अधिक आडम्बर के साथ बुदबुदाकर पढ़ने का ढोंग रचता था। आदमी के निकल जाने पर उसका वह पढ़ने का उत्साह न-जाने कहाँ चला जाता था।

पहले वह याद किये हुए गीतों, चौबोलों और कवित्तों को "ग्रामोफ़ोन" यन्त्र की तरह गाता और कहता था। किन्तु अब उन गीतों, चौबोलों आदि के 'सुर' उसके हृदय में एक अपूर्व चञ्चलता प्रकट कर देते हैं। गीतों और चौबोलों की बातें बहुत ही साधारण और तुच्छ अनुप्रासों से परिपूर्ण होती थीं। उनके अर्थ को भी मङ्गल अच्छी तरह न समझ सकता था। तथापि जब वह गाता था—

नयन कमल से, ओठ मुलायम, गाल गुलाबी प्यारे ।
गोरा रङ्ग, सुडौल अङ्ग सब मानो मदन सँवारे ॥
भरी जवानी के मदमाती धीरे धीरे आती ।
यह सुकुमारी जनकदुलारी मेरे मन को भाती ॥
साथ में लिये सहेली । बाग़ में खड़ी नवेली ।
अदा इसकी अलबेली । बसी हृदय में, हँसी हँसी में
सुध-बुध सारी ले ली ।

तब मानो दूसरे लोक में पहुँच जाता था—उसका दूसरा जन्म हो जाता था। उस समय चारों ओर का नित्य का जगत् गान में तर्जुमा होकर नवीन आकार धारण कर लेता था। इस रूप-वर्णन से उसके हृदय में एक सुन्दर चित्र का आभास जग उठता था। स्पष्ट करके यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने को क्या समझता था, किन्तु इस बात को वह अवश्य भूल जाता था कि मैं बे-मा-बाप का नाचने-गानेवाली मण्डली का एक लड़का हूँ। अत्यन्त ग़रीब घर का अभागा मैला-कुचैला बालक जब शाम को पड़े-पड़े कहानी में राजपुत्र, राजकुमारी और असंख्य धन-रत्न आदि की बातें सुनता है तब उस टिमटिमा रहे दीपक से प्रकाशित पुराने घर के कोने के अन्धकार में उसका मन दारिद्र्य और हीनता के बन्धनपाश से मुक्त होकर एक नवीन राज्य में पहुँचता और एक नवीन रूप, उज्ज्वल वेश और अप्रतिहत क्षमता को धारण करता है। वैसे ही गान के सुर में मङ्गल का मन अपने को और अपने जीवन को एक नवीन आकार दे देता था।

जल का कलरव, पत्तों की खड़क, पक्षियों की बोली और जिस सुन्दरी ने उस अभागे को आश्रय दिया उसका हँसता हुआ चेहरा, आभूषणों और चूड़ियों से परिपूर्ण दोनों बाहु और दुर्लभ सुन्दर पुष्पदलकोमल अरुण चरण किसी माया-मन्त्र के बल से रागिणी में रूपान्तर को प्राप्त हो जाते थे। किसी-किसी समय यह गान का मोह दूर हो जाता था। मङ्गल अपने बालरूप में देख पड़ता था। किसी परोसी के आम के बाग़ में उपद्रव करने का उलहना पाकर गोपीनाथ मङ्गल के दो-तीन थप्पड़ जमा देते थे। मङ्गल फिर अपने साथी लड़कों को लेकर जल और स्थल तथा वृक्षों के ऊपर नये-नये उपद्रवों की सृष्टि करने के लिए चल देता था।

इसी बीच गोपीनाथ का भाई वंशीधर कालिज में छुट्टी होने से घर आया। गङ्गादेई को बड़ी ख़ुशी हुई। उसको और एक काम मिल गया। गङ्गादेई खड़े-बैठे, खाते-पीते अपनी हमजोली के देवर से दिल्लगी करने में लग गई। कभी वंशीधर के सोते में सेंदुर लगाकर, उसकी आँखें पीछे से मूँदकर, कभी उसके कुर्त्ते की पीठ में 'बन्दर' लिखकर और कभी कोठरी में उसको बन्द कर ज़ोर से हँसती हुई गङ्गादेई उसे छकाती थी। वंशीधर भी उसकी कुञ्जी चुराकर, उसके पान में मिर्चे के बीज रखकर, कभी चुपके से पलँग के पाये में उसका आँचल बाँधकर बदला चुकाता था। इसी तरह दिन भर दोनों दौड़ते, हँसते, लड़ते-झगड़ते और रूठते-मनाते थे।

न-जाने इन दिनों मङ्गल को क्या हो गया ! उसका मन तीव्र तीखे भाव से परिपूर्ण हो गया। मानो वह किसी से झगड़ा करने का मौक़ा ढूँढ़ा करता है। वह अपने साथी लड़कों को बेकार सताकर रुला देने लगा, अपने पालतू कुत्ते को अकारण लात मारकर उसके शब्द से घर भर को प्रतिध्वनित कर देने लगा। यहाँ तक कि राह में चलते समय छड़ी मारकर पेड़ों की फुनगियाँ तोड़ने का भी उसे अभ्यास सा पड़ गया।

जो लोग अच्छी तरह पेट भरकर खा सकते हों उन्हें सामने बैठकर खिलाना गङ्गादेई को बहुत रुचता था। मङ्गल में अच्छी तरह पेट भरकर खाने की योग्यता थी। अच्छी बनी हुई चीज़ को खाने के लिए बारम्बार किये गये अनुरोध को वह व्यर्थ न होने देता था। इसी से गङ्गादेई अक्सर उसे बुलाकर अपने सामने खिलाती थी। उसके तृप्त होकर भोजन करने से गङ्गादेई को विशेष सुख प्राप्त होता था। वंशीधर के आने के उपरान्त छुट्टी न मिलने के कारण अक्सर मङ्गल के भोजन के समय गङ्गादेई उसके पास नहीं रहती थी। पहले ऐसा होने से मङ्गल के भोजन में किसी तरह की कमी न होती थी। वह सब भोजन करके दूध पीकर और दूध के कटोरे को खँघलाकर पी लेता तब चौके से उठता था। किन्तु आजकल अगर गङ्गादेई मङ्गल को बुलाकर अपने सामने नहीं खिलाती थी तो उसे एक

प्रकार की पीड़ा होती थी; भोजन नहीं रुचता था और भोजन बिना किये ही वह चौके पर से उठ आता था। आँसूभरे गद्गद स्वर से वह दासी से कह जाता था कि भूख नहीं है। वह समझता था कि यह ख़बर पाकर गङ्गादेई अभी मुझे बुला भेजेगी और खाने के लिए बारम्बार अनुरोध करेगी और वह किसी तरह उसका कहना मानने के लिए राज़ी न होगा, कहेगा कि मेरे भूख नहीं है; किन्तु गङ्गादेई को कोई यह ख़बर ही न देता था। गङ्गादेई उसे खाने के लिए बुला भी न भेजती थी और उसके आहार को दासी खा डालती थी। तब मङ्गल अपने सोने की कोठरी में जाकर दीपक बुझाकर अँधेरे में बिछौने पर पड़े-पड़े फूल फूलकर रोता था; किन्तु उसका अभि-योग ही क्या, किसी के ऊपर उसका दावा ही क्या, और उसे सान्त्वना देने के लिए आवे ही कौन! जब कोई न आता तब स्नेहशालिनी विश्वधात्री निद्रा आकर धीरे-धीरे उस बे-मा-बाप के बालक को अपनी गोद में सुलाकर शान्त कर देती थी।

मङ्गल की दृढ़ धारणा हो गई कि वंशीधर सदा गङ्गादेई से लगाया-बुझाया करता है। जिस दिन किसी कारण गङ्गा-देई मुँह फुलाये रहती उस दिन मङ्गल समझ लेता कि गङ्गा-देई उसी पर ख़फ़ा है।

तब से मङ्गल तीव्र आकांक्षा के साथ सदा ईश्वर से यह प्रार्थना करने लगा कि और जन्म में मैं वंशीधर होऊँ और वंशीधर को मेरा स्थान मिले। वह जानता था कि ब्राह्मण

का हृदय से दिया हुआ शाप कभी निष्फल नहीं होता। इसी कारण मन ही मन वंशीधर को ब्रह्मतेज से जलाने में वह आप ही जला करता था। साथ ही ऊपर के खण्ड से उसे वंशीधर और गङ्गादेई के उच्छ्वासपूर्ण हास-परिहास का कलरव सुनाई पड़ता था।

मङ्गल स्पष्टरूप से वंशीधर के साथ कोई शत्रुता का आचरण न कर सकता था। किन्तु सुयोग मिलने पर छोटी-मोटी असुविधा खड़ी करके वह विशेष प्रसन्नता प्राप्त कर लिया करता था। नदी के घाट पर साबन की बट्टी रखकर जब वंशीधर गोता लगाने लगता तब चट से आकर मङ्गल साबन की बट्टी उठा ले जाता। वंशीधर को उस जगह पर साबन न मिलता था। एक दिन नहाते-नहाते वंशीधर ने देखा कि उसकी क़ीमती धोती नदी में बही जा रही है। उसने सोचा, हवा में उड़ गई होगी। लेकिन काम यह था मङ्गल का।

एक दिन वंशीधर के मनोरञ्जन के लिए गङ्गादेई ने मङ्गल को बुलाकर उससे सङ्गीत के चौबोले सुनाने के लिए कहा। मङ्गल चुपचाप खड़ा रहा। गङ्गादेई ने अकचका कर पूछा—"तुझे क्या हो गया है?" मङ्गल ने फिर कुछ जवाब न दिया। गङ्गादेई ने फिर कहा—वही गीत गाता क्यों नहीं?

"मैं उसे भूल गया हूँ" कहकर मङ्गल चला गया।

इसी बीच में गोपीनाथ ने अपनी माता और स्त्री के साथ आगरे होकर मथुरा-वृन्दावन की यात्रा करने का

विचार किया। वंशीधर भी साथ जायगा। किन्तु मङ्गल से किसी ने पूछा भी नहीं। उसके जाने या न जाने की चर्चा ही कोई नहीं करता।

गङ्गादेई ने मङ्गल को भी साथ ले चलने का विचार प्रकट किया। किन्तु स्वामी, सास, देवर, सभी ने इस पर आपत्ति की। लाचार गङ्गादेई को वह विचार छोड़ देना पड़ा। अन्त को यात्रा के दो दिन पहले गङ्गादेई ने मङ्गल को बुलाकर स्नेह के साथ कहा—अब तू अपने घर को चला जा। वहाँ तेरे चचेरे भाई तुझे किसी ढङ्ग से लगा देंगे।

इस समय स्नेह-भरे मीठे वचन सुनकर बहुत दिनों से अनादर पा रहे मङ्गल से रहा न गया। वह एकदम रो उठा। गङ्गादेइ की भी आँखों में आँसू भर आये। ग़ैर को अपना बनाकर पीछे उसे अपने से अलग करके कष्ट पहुँचाने की बात पर गङ्गादेई को बड़ा पछतावा हुआ।

वंशीधर पास ही खड़ा था। वह इतने बड़े लड़के को बच्चों की तरह रोते देखकर कहने लगा—अरे मर! न कुछ बात न चीत, बेकार भों-भों करके रो रहा है!

गङ्गादेई ने ऐसे कठोर वचन कहने के लिए वंशीधर को झिड़का। वंशीधर ने कहा—तुम समझती नहीं हो। तुम सभी पर बहुत अधिक विश्वास करने लगती हो। न-जाने कहाँ का रहनेवाला कङ्गाल का लड़का यहाँ राजसी ठाट से रहकर सुख भोग रहा है। यहाँ से चला जायगा तो फिर

वही मोची का मोची रह जायगा। इसी के मारे रो-धो रहा है। वह ख़ूब जानता है कि दो बूँद आँसू गिरा देने से ही औरतें वश में हो जाती हैं।

मङ्गल जल्दी से वहाँ से चला गया। उसका मन वंशीधर की कल्पित मूर्त्ति को छुरी होकर काटने लगा, सुई होकर बेधने लगा, आग बनकर जलाने लगा। किन्तु असली वंशीधर के शरीर में उसका दाग़ भी नहीं लगा। केवल मङ्गल के ही मर्मस्थल से रक्तपात होने लगा।

वंशीधर प्रयाग से एक फ़ेन्सी क़लमदान लाया था। उसमें दोनों ओर दो सीप की बनी नावों पर दो दावातें थीं और बीच में एक जर्मन सिलवर का हंस चोंच खोले, पर फैलाये, बैठा था। उसी की खुली चोंच में क़लम रखने की जगह थी। वह क़लमदान वंशीधर को बहुत प्यारा था। बीच-बीच में रेशमी रूमाल से वंशीधर उसे झाड़ा-पोंछा करता था। गङ्गादेई अक्सर दिल्लगी में उसी हंस की चोंच में उँगली का टिकोरा देकर नलचरित्र का यह चौबोला कहा करती कि "राजहंस द्विजबंस जनम ले हुआ नीच क्यों ऐसा", और इसी बात को लेकर देवर-भावज में ख़ूब हँसी-दिल्लगी हुआ करती।

यात्रा के पहले दिन सबेरे वंशीधर ने देखा, मेज पर वह क़लमदान नहीं है। बहुत खोजने पर भी उसका पता न चला।

गङ्गादेई ने हँसकर कहा—वंशी, तुम्हारा हंस तुम्हारे लिए दमयन्ती को खोजने गया है।

किन्तु वंशीधर को यह दिल्लगी अच्छी नहीं लगी—वह क्रोध से लाल हो उठा। उसे ज़रा भी सन्देह न था कि मङ्गल ने ही वह क़लमदान टहला दिया है। दासी की लड़की ने इस बात की गवाही भी दी कि कल सन्ध्या के समय वंशीधर के कमरे के आस-पास मङ्गल चक्कर काट रहा था।

वंशीधर के सामने अपराधी लाया गया। वहाँ पर गङ्गादेई भी थी। वंशीधर एकदम कह उठा—तूने मेरा क़लमदान चुराकर कहाँ रक्खा है, ला दे!

मङ्गल ने अपराध के लिए और बिना अपराध के भी गोपीनाथ के हाथ से मार खाई है, किन्तु कभी उसका मन मैला नहीं हुआ। लेकिन आज गङ्गादेई के सामने जब उसको क़लमदान चुराने का अपवाद लगाया गया तब उसकी बड़ी-बड़ी आँखें आग के अङ्गारे की तरह जल उठीं। उसकी छाती उमड़कर रुँधे हुए आँसुओं से फूल उठी। अगर वंशीधर और कुछ भी कहता तो मङ्गल गुस्से में भरी हुई बिल्ली की तरह झपटकर उसका मुँह नोच लेता।

गङ्गादेई मङ्गल को वहाँ से दूसरी जगह ले गई और पुचकारकर कहने लगी—मङ्गल, अगर तूने वह क़लमदान लिया हो तो मुझे चुपके से दे जा, तुझको कोई कुछ न कहेगा।

मङ्गल की आँखों से आँसुओं की धारा बह चली।

गङ्गादेई ने वंशीधर के पास आकर कहा—मङ्गल ने कभी चोरी नहीं की।

कूद की सामग्री—डोर की चर्ख़ी, लट्टू, टूटे-फूटे खिलौने, आम छीलने के लिए घिसी हुई सीपी, छुरी, छड़ी आदि—भरी पड़ी है।

गङ्गादेई ने सोचा कि इन चीज़ों को निकालकर ठीक तौर से रख दिया जाय तो यह सब सामान इसी में आ जायगा। यही सोचकर वह बक्स को ख़ाली करने लगी। पहले ऊपर लिखा हुआ सब सामान निकला। उसके बाद कुछ फटे-पुराने मैले कपड़े निकले। उसके बाद सबके नीचे वही वंशीधर का राजहंस-शोभित क़लमदान निकला!

गङ्गादेई का मुँह लाल हो आया। वह विस्मित होकर हाथ में उस क़लमदान को लिये सोचने लगी।

इसी बीच में पीछे से मङ्गल उस कोठरी में आया। गङ्गादेई को उसके आने की कुछ भी ख़बर नहीं हुई। मङ्गल ने सब देखा। उसने समझा कि गङ्गादेई चोर की तरह चुपके से उसकी चोरी पकड़ने आई है, और उसने चोरी पकड़ भी ली है। मङ्गल यह बात गङ्गादेई को किस तरह समझा सकता था कि मैंने मामूली चोर की तरह लोभ के मारे चोरी नहीं की, केवल बदला चुकाने के लिए—डाह मिटाने के लिए—यह काम किया है; मैंने इस क़लमदान को नदी के भीतर फेंक देने का इरादा कर लिया था, केवल घड़ी भर की देर हो गई! वह कैसे कहे कि मैं चोर नहीं हूँ! चोरी है, किन्तु चोर नहीं हूँ। गङ्गादेई का उसे चोर

एक निष्ठुर अन्याय है, यह बात अब वह किसी तरह गङ्गादेई के मन में बिठा नहीं सकता।

गङ्गादेई ने लम्बी साँस लेकर वह क़लमदान उसी बक्स के भीतर रख दिया। चोर की तरह उसके ऊपर सब मैले कपड़े भर दिये। उसके ऊपर मङ्गल का पूर्वोक्त सब सामान रखकर अपनी दी हुई सब सामग्री रख दी। सबके ऊपर वे दस रुपये रख दिये। ढकना बन्द करके ताला भी लगा दिया।

किन्तु दूसरे दिन मङ्गल लापता हो गया। गाँव के लोगों ने कहा—हमने उसे कहीं नहीं देखा। पुलीस ने भी कहा—उसका कहीं आसपास पता नहीं लगता। तब गोपीनाथ ने कहा—अब उसके बक्स की जाँच करनी चाहिए।

"यह बात किसी तरह न होने पावेगी।" कहकर गङ्गादेई उस बक्स को अपने कमरे में उठा ले गई और मौक़ा पाकर उस क़लमदान को नदी के जल में फेंक आई।

गोपीनाथ सपरिवार तीर्थयात्रा करने चल दिये। मङ्गल की सूनी कोठरी में ताला पड़ गया। केवल मङ्गल का पालतू कुत्ता खाना-पीना छोड़कर नदी के किनारे घूम-घूमकर मङ्गल को खोजता रोता हुआ फिरता रहा।

सम्पादक

जब मेरी स्त्री जीती थी तब दुलारी के लिए मुझे किसी प्रकार की चिन्ता न थी। उस समय दुलारी की अपेक्षा उसकी माता के लिए ही मैं अधिक व्यस्त रहता था।

उस समय केवल दुलारी का हँसना-खेलना देखकर, उसकी तोतली अधूरी बातें सुनकर और उसे दुलराकर ही मैं तृप्त रहता था। जब तक अच्छा लगता था तब तक उसे खिलाता और दुलराता था। किन्तु जब वह रोने लगती तब उसे चटपट उसकी मा की गोद में पहुँचा देता था। उस समय मैंने यह न सोचा था कि इसका लालन-पालन और पोषण बड़ी चिन्ता और चेष्टा से मुझे ही करना पड़ेगा।

इसी बीच हैज़े की बीमारी से मेरी स्त्री का देहान्त हो गया। मा की गोद से बिछड़ी हुई लड़की मेरी गोद में आ गई। मैंने प्यार से उसे गोद में लेकर छाती से लगा लिया।

किन्तु यह मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि उस मातृ-हीना कन्या का दूने स्नेह के साथ पालन करना मेरा कर्त्तव्य है—इस बात को मैंने अधिक सोचा था, या पत्नीहीन पिता की पूरे यत्न से सेवा करना लड़की का प्रधान कर्त्तव्य है—इस बात का उस बालिका ने अधिक अनुभव किया था।

मैंने देखा, छः-सात वर्ष की अवस्था में ही दुलारी पुरखिन की तरह गृहस्थी का सब काम आप करने की चेष्टा करने लगी। वह छोटी सी लड़की अपने पिता की देखरेख करनेवाली बनने की कोशिश में लग गई।

मैंने मन ही मन हँसकर उसे आत्मसमर्पण कर दिया। मैंने देखा, मैं जितना ही असहाय अकर्मण्य बनता हूँ उतना ही उसे अच्छा लगता है। यदि मैं अपने हाथ से कपड़ा या छाता उठा लेता तो वह बालिका ऐसा भाव धारण करती मानो उसके काम में दस्तन्दाज़ी की जा रही है। पिता का ऐसा इतना बड़ा खिलौना उसे पहले कभी मिला न था, इसी से वह पिता को खिला-पिलाकर, कपड़े पहनाकर, बिछौने पर सुलाकर दिन भर बड़े आनन्द से रहती है। केवल पहाड़े और बालविनोद के दोहे पढ़ने के समय वह मेरे पिता के भाव को कुछ सचेत कर देती थी।

इधर बीच-बीच में मुझे यह चिन्ता होने लगी कि पढ़े-लिखे अच्छे ऊँचे घराने में किसी अच्छे लड़के के साथ कन्या का ब्याह करने के लिए तो दो-तीन हज़ार रुपये की ज़रूरत है। मेरे पास इतने रुपये कहाँ हैं? कन्या को अपनी शक्ति भर पढ़ाता-लिखाता तो हूँ, किन्तु अगर वह किसी वज्रमूर्ख कुलीन के हाथ में पड़ेगी तो उसकी क्या दशा होगी?

एकाएक धनोपार्जन करने की सूझी। सरकारी दफ़्तरों में नौकरी करने की अवस्था नहीं है। अन्य आफ़िसों में भी

नौकरी करने की शक्ति नहीं है। बहुत सोच-विचार कर पुस्तक-रचना करने का विचार किया।

बाँस के चोंगे में छेद कर देने से उसमें न तेल रक्खा जा सकता है और न पानी ही रह सकता है। उसमें धारणा-शक्ति का अभाव हो जाता है। उससे संसार का कोई काम नहीं चलता। मगर मुँह से फूँकने पर मुफ़ की बाँसुरी बड़ी अच्छी बजती है। मैं निश्चित रूप से जानता था कि संसार के किसी काम में जिस अभागे की बुद्धि काम नहीं देती वह अवश्य ही अच्छी पुस्तक लिख सकता है। इसी साहस से मैंने पहले एक छोटा सा प्रहसन लिखा। लोगों ने उसे अच्छा कहा। वह रङ्गमञ्च पर खेला भी गया।

अकस्मात् यश का स्वाद पाकर ऐसा चसका पड़ा कि प्रहसन लिखना छोड़ना मेरे लिए असम्भव हो गया। दिनभर व्याकुल चिन्तापूर्ण मुख लिये मैं प्रहसन लिखने में जुटा रहता था।

आदर और स्नेह से हँसती हुई दुलारी ने आकर कहा—बाबू, नहाने न चलिएगा ?

मैंने भिड़ककर कहा—अभी जा, अभी जा, इस समय दिक़ न कर।

मेरी भिड़की सुनकर शायद बालिका का मुख एक फूँक से बुझे हुए दीपक की तरह बुझ सा गया। मुझे उस समय मालूम भी नहीं हुआ कि वह कुण्ठित होकर अपना सा मुँह लिये कब वहाँ से चली गई।

मैंने देखा, छः-सात वर्ष की अवस्था में ही दुलारी पुरखिन की तरह गृहस्थी का सब काम आप करने की चेष्टा करने लगी। वह छोटी सी लड़की अपने पिता की देखरेख करनेवाली बनने की कोशिश में लग गई।

मैंने मन ही मन हँसकर उसे आत्मसमर्पण कर दिया। मैंने देखा, मैं जितना ही असहाय अकर्मण्य बनता हूँ उतना ही उसे अच्छा लगता है। यदि मैं अपने हाथ से कपड़ा या छाता उठा लेता तो वह बालिका ऐसा भाव धारण करती मानो उसके काम में दस्तन्दाज़ी की जा रही है। पिता का ऐसा इतना बड़ा खिलौना उसे पहले कभी मिला न था, इसी से वह पिता को खिला-पिलाकर, कपड़े पहनाकर, बिछौने पर सुलाकर दिन भर बड़े आनन्द से रहती है। केवल पहाड़े और बालविनोद के दोहे पढ़ने के समय वह मेरे पिता के भाव को कुछ सचेत कर देती थी।

इधर बीच-बीच में मुझे यह चिन्ता होने लगी कि पढ़े-लिखे अच्छे ऊँचे घराने में किसी अच्छे लड़के के साथ कन्या का ब्याह करने के लिए तो दो-तीन हज़ार रुपये की ज़रूरत है। मेरे पास इतने रुपये कहाँ हैं? कन्या को अपनी शक्ति भर पढ़ाता-लिखाता तो हूँ, किन्तु अगर वह किसी वज्रमूर्ख कुलीन के हाथ में पड़ेगी तो उसकी क्या दशा होगी?

एकाएक धनोपार्जन करने की सूझी। सरकारी दफ़्तरों में नौकरी करने की अवस्था नहीं है। अन्य आफ़िसों में भी

नौकरी करने की शक्ति नहीं है। बहुत सोच-विचार कर पुस्तक-रचना करने का विचार किया।

बाँस के चोंगे में छेद कर देने से उसमें न तेल रक्खा जा सकता है और न पानी ही रह सकता है। उसमें धारणा-शक्ति का अभाव हो जाता है। उससे संसार का कोई काम नहीं चलता। मगर मुँह से फूँकने पर मुफ़् की बाँसुरी बड़ी अच्छी बजती है। मैं निश्चित रूप से जानता था कि संसार के किसी काम में जिस अभागे की बुद्धि काम नहीं देती वह अवश्य ही अच्छी पुस्तक लिख सकता है। इसी साहस से मैंने पहले एक छोटा सा प्रहसन लिखा। लोगों ने उसे अच्छा कहा। वह रङ्गमञ्च पर खेला भी गया।

अकस्मात् यश का स्वाद पाकर ऐसा चसका पड़ा कि प्रहसन लिखना छोड़ना मेरे लिए असम्भव हो गया। दिनभर व्याकुल चिन्तापूर्ण मुख लिये मैं प्रहसन लिखने में जुटा रहता था।

आदर और स्नेह से हँसती हुई दुलारी ने आकर कहा—बाबू, नहाने न चलिएगा ?

मैंने झिड़ककर कहा—अभी जा, अभी जा, इस समय दिक़ न कर।

मेरी झिड़की सुनकर शायद बालिका का मुख एक फूँक से बुझे हुए दीपक की तरह बुझ सा गया। मुझे उस समय मालूम भी नहीं हुआ कि वह कुण्ठित होकर अपना सा मुँह लिये कब वहाँ से चली गई।

मैंने देखा, छः-सात वर्ष की अवस्था में ही दुलारी पुरखिन की तरह गृहस्थी का सब काम आप करने की चेष्टा करने लगी। वह छोटी सी लड़की अपने पिता की देखरेख करनेवाली बनने की कोशिश में लग गई।

मैंने मन ही मन हँसकर उसे आत्मसमर्पण कर दिया। मैंने देखा, मैं जितना ही असहाय अकर्मण्य बनता हूँ उतना ही उसे अच्छा लगता है। यदि मैं अपने हाथ से कपड़ा या छाता उठा लेता तो वह बालिका ऐसा भाव धारण करती मानो उसके काम में दस्तन्दाज़ी की जा रही है। पिता का ऐसा इतना बड़ा खिलौना उसे पहले कभी मिला न था, इसी से वह पिता को खिला-पिलाकर, कपड़े पहनाकर, बिछौने पर सुला-कर दिन भर बड़े आनन्द से रहती है। केवल पहाड़े और बालविनोद के दोहे पढ़ने के समय वह मेरे पिता के भाव को कुछ सचेत कर देती थी।

इधर बीच-बीच में मुझे यह चिन्ता होने लगी कि पढ़े-लिखे अच्छे ऊँचे घराने में किसी अच्छे लड़के के साथ कन्या का ब्याह करने के लिए तो दो-तीन हज़ार रुपये की ज़रूरत है। मेरे पास इतने रुपये कहाँ हैं? कन्या को अपनी शक्ति भर पढ़ाता-लिखाता तो हूँ, किन्तु अगर वह किसी वज्रमूर्ख कुलीन के हाथ में पड़ेगी तो उसकी क्या दशा होगी?

एकाएक धनोपार्जन करने की सूझी। सरकारी दफ़्तरों में नौकरी करने की अवस्था नहीं है। अन्य आफ़िसों में भी

नौकरी करने की शक्ति नहीं है। बहुत सोच-विचार कर पुस्तक-रचना करने का विचार किया।

बाँस के चोंगे में छेद कर देने से उसमें न तेल रक्खा जा सकता है और न पानी ही रह सकता है। उसमें धारणा-शक्ति का अभाव हो जाता है। उससे संसार का कोई काम नहीं चलता। मगर मुँह से फूँकने पर मुफ़ की बाँसुरी बड़ी अच्छी बजती है। मैं निश्चित रूप से जानता था कि संसार के किसी काम में जिस अभागे की बुद्धि काम नहीं देती वह अवश्य ही अच्छी पुस्तक लिख सकता है। इसी साहस से मैंने पहले एक छोटा सा प्रहसन लिखा। लोगों ने उसे अच्छा कहा। वह रङ्गमञ्च पर खेला भी गया।

अकस्मात् यश का स्वाद पाकर ऐसा चसका पड़ा कि प्रहसन लिखना छोड़ना मेरे लिए असम्भव हो गया। दिनभर व्याकुल चिन्तापूर्ण मुख लिये मैं प्रहसन लिखने में जुटा रहता था।

आदर और स्नेह से हँसती हुई दुलारी ने आकर कहा—बाबू, नहाने न चलिएगा ?

मैंने झिड़ककर कहा—अभी जा, अभी जा, इस समय दिक़ न कर।

मेरी झिड़की सुनकर शायद बालिका का मुख एक फूँक से बुझे हुए दीपक की तरह बुझ सा गया। मुझे उस समय मालूम भी नहीं हुआ कि वह कुण्ठित होकर अपना सा मुँह लिये कब वहाँ से चली गई।

दासी को झिड़क देता था, नौकर को मारने दौड़ता था, भिक्षुक अगर ज़ोर से गाकर भीख माँगता तो उसे गाली देकर दुतकार देता था। गली के पास ही मेरा कमरा था। अगर कोई राह चलनेवाला खिड़की के बाहर से मुझसे राह पूछता तो मैं उसे सीधे जहन्नुम जाने के लिए अनुरोध करता था। हाय, कोई यह न समझता था कि मैं प्रहसन लिख रहा हूँ।

परन्तु प्रहसन लिखने से जितना मज़ा और यश मिलता था उतना क्या, उसके हज़ारवें हिस्से भर भी रुपया न मिलता था। सच तो यह है कि उस समय मुझको रुपये का उतना ख़याल भी न था। जितने लड़के मैंने दुलारी के लायक़ समझे थे वे सब एक-एक करके ब्याह गये; मैंने उधर भी कुछ ध्यान नहीं दिया।

पापी पेट न होता तो शायद होश ही न होता। किन्तु इसी समय एक अच्छा सुयोग हाथ लग गया। देवगढ़ के ज़मींदार ने देवगढ़समाचार नाम का एक अख़बार निकाला और तनख़्वाह लेकर उस पत्र का सम्पादन करने के लिए मुझे चुना। मैंने भी उनके प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

कुछ दिनों तक मैं उस काग़ज़ में ऐसे ज़ोरदार लेख निकालता रहा कि रास्ते में निकलने पर लोग दूर से उँगली उठाकर अपने जानपहचानवालों को मेरा परिचय कराते थे। मैं भी अपने को दोपहर के सूर्य की तरह दुर्निरीक्ष्य समझता था।

देवगढ़ से कुछ ही फ़ासले पर सिंहगढ़ था। दोनों गाँवों के ज़मींदारों में, आपस में, पुश्तैनी लाग-डाँट थी। पहले बात-बात में दोनों दल के आदमी लाठियों की मार करने लगते थे। इस समय मजिस्ट्रेट ने दोनों ओर के आदमियों के मुचलके ले लिये। इससे लाठी चलना बन्द हो गया। एक पत्र ने ईश्वर की सृष्टि के मुझ क्षुद्र जीव को पहले के ख़ूनी लाठी चलानेवालों की जगह पर नियुक्त किया है। सभी कहते हैं कि मैंने पद-मर्यादा की रक्षा की है।

मेरे तेज़ लेखों की ज्वाला से सिंहगढ़ के लोगों को सिर उठाना कठिन हो गया। उनके कुल, जाति और पूर्वपुरुषों के इतिहास को मैंने आद्योपान्त स्याही से पोत डाला है।

मैं इस समय बड़े आराम से था। शरीर भी कुछ मोटा हो गया था। सिंहगढ़-वासियों के पुरखों को लक्ष्य कर मैं एक से एक बढ़कर हृदयवेधी वाक्यबाण छोड़ता था। सच तो यह है कि उस समय मेरा जीवन बड़े आनन्द से बीतता था।

अन्त को सिंहगढ़ से भी एक वैसा ही चटकीला पत्र निकला। वह कोई बात छिपाकर न कहता था। वह ऐसे उत्साह के साथ स्पष्ट प्रचलित भाषा में गाली देता था कि छापे के अक्षर तक आँखों के आगे चिल्लाने लगते थे। इसी कारण दोनों गाँवों के लोग उसकी बात को अच्छी तरह साफ़-साफ़ समझ लेते थे।

किन्तु मैं अपने पुराने अभ्यास के अनुसार ऐसे मज़े में, ऐसे कूटकौशल के साथ, शत्रुओं पर आक्रमण करता था कि किसी की समझ में यह न आता था कि मेरे लेख का मतलब क्या है।

फल यह हुआ कि मेरी जीत होने पर भी लोग समझते थे कि मैं हार गया। दूसरा कोई उपाय न देखकर मैंने "सुरुचि" के ऊपर एक उपदेश-पूर्ण लेख लिखा। पर पीछे से जान पड़ा कि मैंने बड़ी भूल की। जो वस्तु यथार्थ में अच्छी है उसकी हँसी उड़ाना जैसा सहज है वैसा उपहास के योग्य वस्तु की हँसी उड़ाना नहीं है। वानरवंश जैसे नर-वंश का उपहास करने में सहज ही सफलता प्राप्त कर सकता है वैसे नरवंश वानरवंश का उपहास करने में नहीं सफलता प्राप्त कर सकता। इसी कारण पत्र-पाठकों ने सुरुचि को दाँत दिखाकर दूर कर दिया।

अब मेरे मालिक भी पहले की तरह आदर का भाव नहीं दिखाते। सभा-समितियों में भी अब मेरा वैसा सम्मान नहीं होता। राह में भी उस तरह आग्रह के साथ लोग मुझसे नहीं मिलते। यहाँ तक कि आजकल मुझे देखकर कोई-कोई हँसने भी लगते हैं।

दिनों के फेर से आज मेरे प्रहसनों की बात भी लोग भूल से गये हैं। मुझे जान पड़ा, मैं एक दियासलाई की तरह दम भर जलकर अन्त तक जल गया हूँ।

अब मैं ऐसा उत्साहहीन हो गया कि हज़ार कोशिश करने पर भी एक लाइन नहीं लिख सकता था। यह ख़याल होने लगा कि अब जीकर क्या करूँगा; जीने का कुछ आनन्द ही नहीं रहा।

दुलारी आजकल मुझे डरने लगी है। बिना बुलाये मेरे पास जाने का उसे साहस नहीं होता। अब उसकी यह धारणा हो गई है कि मजे़ की बात लिख सकनेवाले बाप की अपेक्षा मिट्टी का बबुआ बहुत अच्छा साथी है।

एक दिन क्या देखा कि "सिंहगढ़समाचार" ज़मींदार को छोड़ मेरे ही ऊपर खड्गहस्त हो रहा है। मुझे लक्ष्य करके उसने कुछ बहुत बुरी बातें लिखी हैं। मेरे कई परिचित इष्ट-मित्र एक-एक करके हँसते हुए आये और मुझे वह पत्र पढ़कर सुना गये। किसी-किसीने कहा, इसका विषय चाहे जैसा हो, पर भाषा बड़े मज़े की है। अर्थात् भाषा देखने से यह साफ़ मालूम हो जाता है कि गाली दी गई है। दिन भर में बीसों आदमियों से यही एक बात सुनने को मिली।

मेरे घर के सामने ही एक छोटा सा बाग़ था। मन अत्यन्त उदास होने के कारण मैं शाम को उस स्थान पर अकेले टहल रहा था। चिड़ियाँ घोंसलों में लौट आईं। चह-चहाना बंद करके उन्होंने सन्ध्या की शान्ति को आत्मसमर्पण कर दिया। तब मैं अच्छी तरह समझ गया कि पक्षियों में रसिक और बहादुर लेखकों का समाज नहीं है और सुरुचि के बारे में उनमें तर्क-वितर्क नहीं होता।

मैं उस समय यही सोच रहा था कि सिंहगढ़समाचार को क्या उत्तर दिया जाय। भलमंसी से लिखने में एक विशेष असुविधा यह होती है कि सब जगह के लोग उसे समझ नहीं सकते। अभद्रता की भाषा भद्रता की भाषा की अपेक्षा अधिक परिचित होती है। इसी से मैं विचार कर रहा था कि अबकी 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' के अनुसार मुँहतोड़ जवाब दूँगा। हार किसी तरह न मानूँगा।

इसी समय उस सन्ध्या के अन्धकार में एक कोमल स्वर सुन पड़ा। उसके बाद ही मेरे हाथ में एक सुकुमार छोटा सा गर्म हाथ लगा। मैं इतना अनमना था कि उस स्वर और स्पर्श के चिरपरिचित होने पर भी उसे उसी दम नहीं पहचान सका।

बालिका ने पास आकर धीरे से पुकारा—"बाबू।" कुछ उत्तर न पाकर उसने धीरे से मेरे दाहने हाथ को उठाकर अपने कोमल गालों पर रख लिया। फिर वह धीरे-धीरे घर के भीतर चली गई।

बहुत दिनों से दुलारी ने मुझे इस तरह नहीं पुकारा था और अपनी इच्छा से आकर इतना आदर नहीं किया था। इसी कारण आज उसके स्नेहपूर्ण स्पर्श से अकस्मात् मेरा हृदय आकुल हो उठा।

थोड़ी देर बाद घर में आकर मैंने देखा, दुलारी पलँग पर पड़ी हुई है, ज्वर से उसका शरीर शिथिल और गर्म हो रहा

है, आँखें अधखुली हैं। वह शाम के झड़े हुए फूल की तरह मुरझाई हुई पड़ी है।

सिर पर हाथ रखकर देखा, बहुत गर्म था। साँस भी गर्म थी, मत्थे की नसें भी तनी हुई थीं।

समझ गया कि बालिका रोग की अवाई से पीड़ित होकर पिता के प्यार से हृदय को शीतल करने गई थी। किन्तु पिता उस समय 'देवगढ़-समाचार' में प्रकाशित करने के लिए एक कड़ा लेख लिखने की कल्पना में उलझा हुआ था।

मैं उसके पास जाकर बैठ गया। बालिका ने और कुछ न कहकर अपने ज्वर से तप रहे हाथों में मेरा हाथ रख लिया, और उस पर अपना मुँह रखकर चुपचाप पड़ी रही।

मैंने उसी समय 'देवगढ़समाचार' और 'सिंहगढ़समाचार' की सब कापियाँ जला डालीं। कुछ उत्तर नहीं लिखा। मुझे पहले हार मानकर इतना सुख कभी नहीं मिला था।

दुलारी की मा जब मरी थी तब दुलारी को मैंने अपनी गोद में आश्रय दिया था, और आज उसकी विमाता (सम्पादकी) की अन्त्येष्टि करके फिर उसे छाती से लगा लिया।

आधी रात में

"डाक्टर! डाक्टर!"

"कौन है? परेशान कर डाला! आधी रात में—" कहते-कहते आँखें खोलकर देखा, सामने महल्ले के रईस मुंशी गङ्गासहाय खड़े हैं। जल्दी से उठकर पिछाड़ से टूटी हुई कुर्सी खींचकर उनको बैठने के लिए दी। मैं घबराहट के भाव से उनके मुँह की ओर ताकने लगा। उस समय घड़ी में ढाई बजे थे।

गङ्गासहाय का चेहरा उतरा हुआ था। वे आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे। कहने लगे—आज रात को फिर वही उपद्रव शुरू हो गया है। तुम्हारी दवा ने कुछ काम नहीं किया।

मैंने कुछ सङ्कोच के साथ कहा—आपने शायद मद की मात्रा फिर बढ़ा दी है।

गङ्गासहाय ने बहुत ही खीझकर कहा—यह तुम्हारी भूल है। मद नहीं पिया; आदि से अन्त तक ब्यौरा सुने बिना तुम असल कारण का अनुमान न कर सकोगे।

आले पर छोटी सी टीन की डिब्बी में मिट्टी का तेल जल रहा था। मैंने बत्ती चढ़ाकर रोशनी ज़रा तेज़ कर दी।

थोड़ी रोशनी बढ़ी, लेकिन धुआँ बहुत निकलने लगा। मैं भी पास ही एक लकड़ी के बक्स पर, जिस पर एक अख़बार बिछा हुआ था, बैठ गया।

मुंशी गङ्गासहाय कहने लगे—मेरी पहली स्त्री के समान घर-गिरिस्ती में निपुण स्त्री बहुत ही कम मिलेंगी। किन्तु उस समय मेरी अवस्था अधिक न थी। सहज ही रस की अधिकता थी। उस पर मुझे साहित्य पर अनुराग था। मैंने संस्कृत भी पढ़ी थी। इसी से निरन्तर घर-गिरिस्ती में लगा रहना ही मुझे पसन्द न था। कालिदास का यह श्लोक प्रायः मुझे स्मरण हो आता था—

गृहिणीसचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।

किन्तु मेरी स्त्री को "ललितकला" का उपदेश बिल्कुल न रुचता था। और अगर मैं सखी-भाव से प्रेमालाप करता तो वह हँसकर उड़ा देती थी। गङ्गा के प्रवाह में पड़कर इन्द्र का ऐरावत हाथी जैसे बह गया था वैसे ही उसकी हँसी की धारा में बड़े-बड़े काव्यखण्ड और अच्छे-अच्छे आदर के सम्भाषण दम भर में अपदस्थ होकर बह जाते थे। उसमें हँसने की अद्भुत शक्ति थी।

आज चार साल हुए कि मुझे कठिन रोग ने धर दबाया। ओठ में ज़ख़्म हुआ, बुख़ार आया, अन्त को जान पर आ बनी। बचने की आशा नहीं रही। एक दिन ऐसा हुआ कि डाकूर ने जवाब दे दिया। इसी समय मेरे एक आत्मीय

किसी ब्रह्मचारी को ले आये। ब्रह्मचारी ने गाय के घी के साथ एक जड़ पीसकर मुझे खिला दी। औषध के गुण से हो या अपने भाग्य से, उस बार मेरी जान बच गई।

बीमारी की दशा में मेरी स्त्री दिन-रात मेरी सेवा में लगी रही, घड़ी भर के लिए भी उसने विश्राम नहीं किया। बीमारी के दिनों में एक अबला स्त्री, मनुष्य की साधारण शक्ति को लेकर, प्राणपण से व्याकुलता के साथ, द्वार पर आये हुए यमदूतों से लगातार युद्ध करती रही। वह अपने सारे प्रेम, सम्पूर्ण हृदय और पूर्ण यत्न-द्वारा मेरे इस अयोग्य प्राण को, अपने हृदय के बालक की तरह, दोनों हाथों से छाती से लगाये रही। न भूख थी, न नींद थी, और न किसी ओर ध्यान था।

तब यमराज लाचार बाघ की तरह मुझे अपने चङ्गुल से छोड़कर चले गये। किन्तु जाते समय मेरी स्त्री के एक ज़बर्दस्त नकोटा मार गये।

मेरी स्त्री के उस समय गर्भ था। थोड़े ही दिनों में उसके एक मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ। उसके उपरान्त से ही उसको तरह-तरह की कठिन बीमारियाँ घेरने लगीं। तब मैं उसकी सेवा करने लगा। लेकिन यह बात मेरी स्त्री को नहीं रुची। वह कहने लगी—तुम यह क्या करते हो! लोग क्या कहेंगे! तुम इस तरह बार-बार मेरे पास मत आया-जाया करो।

अगर मैं अपने पङ्खा हाँकने का बहाना करके उसके पास बैठकर पङ्खा हाँकने लगता तो ख़ुद हाँकने के लिए वह मेरे

हाथ से पङ्खा छीन लेती थी। अगर उसकी सेवा करने में मेरे भोजन के समय में दस मिनट का विलम्ब हो जाता तो वह भी तरह-तरह के अनुनय, अनुरोध और अभियोग का कारण हो उठता था। वह मुझसे ज़रा भी सेवा नहीं कराना चाहती थी। कहने लगती कि स्त्री की सेवा करना मर्दों का काम नहीं।

मेरा वह चम्पापुरवाला घर तो तुमने शायद देखा है। घर के सामने ही बगिया है और बगिया के सामने ही नदी बहती है। मेरे सोने के कमरे के नीचे ही दक्खिन ओर थोड़ी सी ज़मीन मेंहदी की टट्टी से घिरी है। मेरी स्त्री ने अपनी रुचि के अनुसार उसमें एक छोटी सी बगिया लगा रक्खी थी। सारे बाग़ में वही टुकड़ा बहुत सीधा-सादा और देशी ढङ्ग का था। अर्थात् उसमें गन्ध की अपेक्षा रङ्ग की बहार, फूलों की अपेक्षा पत्तों की विचित्रता न थी, और 'टब' के बीच मामूली पौधे की बग़ल में एक खपची पर लैटिन नाम की काग़ज़ की विजय-पताका नहीं फहराती थी! वहाँ बेला, जूही, गुलाब, हरसिंगार आदि फूलों का ही सौन्दर्य देख पड़ता था। उसी में एक बड़ा भारी मौलसिरी का पेड़ था। उसके नीचे एक छोटा सा 'सङ्गमरमर' का चबूतरा बना हुआ था। आरोग्य अवस्था में मेरी स्त्री ख़ुद खड़े होकर अपने सामने उसे धुलाकर साफ़ कराती थी। गर्मियों में काम-काज से छुट्टी पाकर सन्ध्या के समय वहीं आकर वह बैठती थी। वहाँ से नदी का दृश्य देख पड़ता था।

बहुत दिनों बीमार पड़े रहने के उपरान्त, चैत के शुक्लपक्ष में, एक दिन सन्ध्या के समय उसने कहा—घर के भीतर पड़े-पड़े मेरा जी ऊब गया है। आज मैं ज़रा अपनी बगिया में बैठूँगी।

मैं बड़े यत्न से उसे धीरे-धीरे सहारा देकर वहीं ले गया और वहाँ ले जाकर उसी चबूतरे पर लिटा दिया। मैं उसके सिर को अपनी जाँघ पर रख सकता था, पर इसको वह मेरा एक अद्भुत आचरण समझती। इसी कारण भीतर से एक तकिया लाकर उसके सिर के नीचे रख दिया।

दो-एक करके खिले हुए मौलसिरी के फूल झरकर गिरने लगे और डालों के बीच से छाया-मिश्रित चाँदनी उसके शिथिल-शीर्ण मुख पर आकर पड़ने लगी। चारों ओर शान्त सन्नाटा था। उस घनी सुगन्ध से परिपूर्ण छायामय अन्धकार के बीच किनारे चुपचाप बैठकर उसके मुँह की ओर देखने से मेरी आँखों में आँसू भर आये।

मैं उसके पास और खिसक आया और अपने हाथों में बड़े प्यार से उसका गर्म और कमज़ोर हाथ ले लिया। इस पर उसने कोई आपत्ति नहीं की। कुछ देर तक इसी तरह चुप-चाप रहने पर मेरा हृदय ऐसा उमँग उठा कि मैं एकाएक कह उठा—प्रिये, तुम्हारे प्रेम को मैं कभी न भूलूँगा।

यह कहते ही मुझे यह जान पड़ा कि इस बात के कहने की कोई ज़रूरत न थी। मेरी स्त्री इस बात पर हँस उठी।

उस हँसी में लज्जा थी, सुख था, और था थोड़ा सा अविश्वास। साथ ही उसके भीतर बहुत कुछ परिहास की तीव्रता भी थी। प्रतिवाद की कोई बात न कहकर उसने उसी हँसी के द्वारा मुझे यह जताया कि कभी न भूलने की बात सम्भव नहीं और मुझे इसकी प्रत्याशा भी नहीं।

इस मीठी और तीक्ष्ण हँसी के डर से ही मैंने कभी अपनी स्त्री से जी भरकर प्रेमालाप करने का साहस नहीं किया। पीछे जो बातें मन में उठती थीं वे उसके सामने जाते ही बिल्कुल अनावश्यक और असङ्गत जँचने लगती थीं। यह बात अब तक मेरी समझ में नहीं आई कि छापे के अक्षरों में जिन बातों के पढ़ने से आँखों से आँसुओं की धारा बह चलती है उन्हीं बातों को मुँह पर लाने से क्यों वे हँसी पैदा कर देती हैं।

बात का प्रतिवाद भी किया जा सकता है, किन्तु हँसी के ऊपर कोई तर्क नहीं चलता। इसी कारण मुझे चुप रह जाना पड़ा। चाँदनी का प्रकाश और भी उज्ज्वल हो उठा, एक कोयल लगातार कुऊ-कुऊ कहकर अपने हृदय की चञ्चलता प्रकट करने लगी। मैं बैठा-बैठा अपनी उक्ति और स्त्री की हँसी पर विचार करता रहा।

बहुत कुछ दवा करने पर भी मेरी स्त्री का रोग शान्त होने का कोई लक्षण न देख पड़ा। डाक्टर ने कहा—एक बार जलवायु बदलने के लिए किसी और जगह जाकर देखिए। मैं स्त्री को लेकर प्रयाग गया।—

गङ्गासहाय एकाएक ठहर गये। उन्होंने सन्देह की दृष्टि से एक बार मेरे मुँह की ओर देखा, उसके बाद अपने दोनों हाथों में सिर रखकर सोचने लगे। मैं चुपचाप बैठा रहा। आले पर मिट्टी के तेल की डिबिया टिमटिमा रही थी। सुनसान सन्नाटे में मच्छड़ों की भनभनाहट स्पष्ट सुन पड़ने लगी। एकाएक मुंशी गङ्गासहाय ने फिर अपना क़िस्सा यों शुरू किया—

वहाँ डाक्टर पन्नालाल मेरी स्त्री की चिकित्सा करने लगे। अन्त को पन्द्रह-बीस दिन के बाद डाक्टर पन्नालाल ने भी कह दिया, मैं भी समझ गया और मेरी स्त्री को भी मालूम हो गया कि रोग असाध्य हो गया है। इस कारण मेरी स्त्री को अपना शेष-जीवन रोगी की अवस्था में ही बिताना पड़ेगा।

तब एक दिन मेरी स्त्री ने मुझसे कहा—जब रोग भी अच्छा न होगा और शीघ्र मेरे मरने की भी कुछ आशा नहीं है तब तुम कब तक इस जीते हुए मुर्दे के साथ कष्ट उठाओगे? मैं कहती हूँ, तुम दूसरा ब्याह कर लो।

उसने ऐसे ढङ्ग से यह बात कही जैसे यह एक सुयुक्ति और समझदारी की बात है—इसमें बड़ा भारी महत्त्व, बहादुरी या कुछ असाधारणता नहीं है।

अब मेरे हँसने की पारी आई। लेकिन मुझ में उस तरह हँसने की योग्यता कहाँ? मैं उपन्यास के प्रधान नायक

की तरह गम्भीर उच्च भाव से कहने लगा—जब तक इस देह में प्राण हैं—

मेरी स्त्री मुझे बीच ही में रोककर कहने लगी—बस! रहने दीजिए! तुम्हारी तो सभी बातें तमाशे की होती हैं।

मैंने हार न मानकर कहा—मैं इस जीवन में और किसी को प्यार न कर सकूँगा।

मेरी स्त्री ज़ोर से हँस पड़ी। मैं भी चुप रह गया।

मालूम नहीं, उस समय अपने आगे भी कभी मैंने स्पष्ट स्वीकार किया था या नहीं, किन्तु इस समय मुझे मालूम पड़ता है कि उस आरोग्य की आशा से रहित रोगी की सेवा करते-करते मैं मन ही मन थक गया था—अर्थात् ऊब गया था। मैंने उस समय यह कल्पना भी नहीं की थी कि इस काम से मैं मुँह मोड़ लूँगा। किन्तु यह कल्पना भी मुझे पीड़ा पहुँचाने लगी थी कि जन्म भर इस रोगी के साथ जीवन बिताना पड़ेगा। हाय! शुरू जवानी में जब सामने देखा था तब प्रेम के इन्द्रजाल, सुख के आश्वास और सौन्दर्य की मृग-तृष्णा के कारण सारा भविष्य जीवन प्रफुल्लता-पूर्ण देख पड़ता था। किन्तु इन दिनों जीवन के अन्त तक आशाहीन मरु-भूमि ही नज़र आती थी।

मेरी की हुई सेवा में मेरी स्त्री ने उक्त मानसिक थकन या ऊब की झलक अवश्य देख ली थी। उस समय तो नहीं जानता

था, किन्तु इस समय कुछ भी सन्देह नहीं कि वह मुझे संयुक्ताक्षर-हीन 'वर्णप्रकाशिका' के प्रथम भाग की तरह अच्छी तरह जानती-पहचानती थी। इसी कारण जब मैं उपन्यास का नायक बनकर गम्भीर भाव से उसके आगे कविता करने बैठता था तब वह ऐसे गम्भीर स्नेह और अनिवार्य कौतुक के साथ हँस उठती थी। जिस अपने हृदय की बात को मैं ख़ुद नहीं जान सकता था उसे भी अन्तर्यामी की तरह वह जान लेती थी। इस बात की याद आ जाने से इस समय भी लज्जा के मारे मर जाने की इच्छा होती है।

डाकृर पन्नालाल मेरी ही जाति के आदमी थे। उनके घर अक्सर मेरी दावत हुआ करती थी। कुछ दिन यों ही आने-जाने के बाद डाकृर ने अपनी कन्या से मेरा परिचय करा दिया। कन्या का अभी ब्याह न हुआ था। अवस्था चौदह-पन्द्रह वर्ष की होगी। डाकृर का कहना यह था कि कोई अच्छा मनमाना लड़का न मिलने के कारण मैंने कन्या का ब्याह अब तक नहीं किया। किन्तु दूसरों से यह सुन पड़ता था कि लड़की के कोई कुल-दोष है।

कुल-दोष हो तो हो, लेकिन और कोई दोष न था। लड़की जैसी सुन्दर थी वैसी ही पढ़ी-लिखी थी। इसी कारण उससे बातें करने में जी लगता था। मैं बातें करने में कभी ऐसा उलझ जाता था कि घर लौटने को रात हो जाती थी। स्त्री को दवा खिलाने का समय निकल जाता था। यह

मेरी स्त्री जानती थी कि मैं डाकृर साहब के घर जाता हूँ; लेकिन विलम्ब का कारण उसने एक दिन भी नहीं पूछा।

मानसिक दृष्टि के आगे फैली हुई मरुभूमि में फिर जल-मरीचिका देख पड़ने लगी। जिस समय प्यास के मारे हलक सूख रही थी उसी समय सामने स्वच्छ जल लहराने लगा। मन को प्राणपण से उधर से फेरने की चेष्टा करने पर भी मैं कृतकार्य नहीं हो सका।

अब रोगी के कमरे में जाना मेरे लिए सबसे बढ़कर कष्ट का काम हो गया। इन दिनों रोगी की देखरेख और दवा देने के नियम में प्रायः व्यतिक्रम हो जाने लगा।

डाकृर पन्नालाल अक्सर मुझसे कहते थे कि जिस रोगी का रोग असाध्य हो उसका मर जाना ही अच्छा। क्योंकि उसके जीते रहने से, उसे तो सुख मिलता ही नहीं, औरों को भी बेचैनी होती है।

साधारणतः अगर यह बात कही जाय तो कोई दोष नहीं; किन्तु मेरी स्त्री को ही लक्ष्य करके ऐसा प्रसङ्ग उठाना ठीक नहीं था। परन्तु मनुष्य के जीने-मरने के सम्बन्ध में डाकृरों का मन ऐसा कठिन होता है कि हमारे मन की ठीक दशा को वे समझ नहीं सकते।

एकाएक मुझे एक दिन अपने कमरे में सुन पड़ा कि पास की कोठरी में मेरी स्त्री डाकृर पन्नालाल से कह रही है कि क्यों आप बेकार दवाएँ खिला-पिलाकर अँगरेज़ी दवाख़ानों के

बिल की रक़म बढ़ा रहे हैं ? मेरी ज़िन्दगी ही जब एक रोग बन गई है तब ऐसी एक दवा क्यों नहीं दे देते जिसमें शीघ्र ही ये प्राण निकल जायँ !

डाक्टर—छिः, ऐसी बात न कहिए।

स्त्री की बात सुनकर एकाएक मेरे हृदय को बड़ी चोट लगी। डाक्टर के चले जाने पर मैं स्त्री के पास उसी के पलँग पर एक किनारे बैठकर उसके माथे पर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगा। उसने कहा—इस कोठरी में बड़ी गर्मी है, तुम बाहर जाओ। तुम्हारे टहलने जाने का समय हो गया। ज़रा टहल न आओगे तो तुम्हें रात को खुलकर भूख न लगेगी।

टहलने जाने का मतलब था डाक्टर के घर जाना। मैंने ही उससे कहा था कि रात को ठीक तौर से भूख लगने के लिए टहलने जाने की विशेष आवश्यकता होती है। इस समय निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि वह मेरे इस बहाने को अच्छी तरह समझती थी। मैं मूर्ख समझता था कि वह कुछ नहीं समझती।

मुंशी गङ्गासहाय बहुत देर तक माथा पकड़े चुपचाप बैठे रहे। अन्त को मुझसे बोले—"पीने को मुझे ज़रा पानी दीजिए।" पानी पीकर वे फिर यों कहने लगे—

एक दिन डाक्टर की लड़की सुखरानी ने मेरी स्त्री को देखने की इच्छा प्रकट की। मालूम नहीं, किस कारण

उसका यह प्रस्ताव मुझे अच्छा न लगा। लेकिन उसका प्रतिवाद करने का कोई कारण भी न था। वह एक दिन शाम को मेरे डेरे पर आई।

उस दिन मेरी स्त्री की बेचैनी और दिनों से बढ़ गई थी। जिस दिन उसकी बेचैनी बढ़ जाती थी उस दिन वह ख़ूब स्थिर निस्तब्ध हो रहती थी। केवल बीच-बीच में उसकी मुट्ठियाँ बँध जाती थीं और चेहरा नीला पड़ जाता था। इसी से उसकी यन्त्रणा का पता लगता था।

घर में बिल्कुल सन्नाटा था। मैं चुपचाप रोगी के पलँग पर एक किनारे बैठा हुआ था। उस दिन मुझसे टहलने जाने के लिए अनुरोध करने की शक्ति मेरी स्त्री में न थी। अथवा वह यह चाहती थी कि अधिक कष्ट और बेचैनी के समय मैं उसके पास ही रहूँ। आँखों में रोशनी लगेगी, इस ख़याल से लैंप को मैंने बाहर आड़ में रख दिया था। कोठरी में अँधेरा और सन्नाटा छाया हुआ था। केवल बेचैनी कुछ कम होने पर मेरी स्त्री के लम्बी साँस लेने का शब्द सुन पड़ रहा था।

इसी समय सुखरानी कोठरी के दरवाज़े पर आई। विपरीत ओर से लैंप की रोशनी उसके चेहरे पर आकर पड़ी। प्रकाश की चकाचौंध और अँधेरे के मारे कोठरी के भीतर कुछ न देख पड़ने से भीतर आने में वह हिचकिचाने लगी।

मेरी स्त्री चौंक सी पड़ी। उसने मेरा हाथ पकड़कर पूछा—"वह कौन?" उस कमज़ोरी की हालत में एकाएक

अपरिचित आदमी को देखकर डर के मारे अस्फुट स्वर में उसने दो-तीन बार लगातार पूछा—वह कौन है? वह कौन है?

उस समय न-जाने कैसी दुर्बुद्धि ने मुझे घेर लिया। मैंने एकदम कह दिया—"मैं नहीं पहचानता!" मुँह से बात निकलते ही मानो किसीने मेरे चाबुक मारा। वैसे ही मैंने कहा—ओह, यह तो डाकृर साहब की लड़की है।

स्त्री ने एक बार मेरे मुँह की ओर देखा। मैं उससे चार आँखें न कर सका। उसी दम चीण स्वर से मेरी स्त्री ने सुखरानी से कहा—"आइए, बैठिए।" और मुझसे कहा—रोशनी भीतर ले आओ।

सुखरानी कोठरी के भीतर आकर बैठ गई। उससे मेरी स्त्री धीरे-धीरे बातचीत करने लगी। इसी समय डाकृर साहब आ गये।

वे दवाखाने से दवाओं की दो शीशियाँ लाये थे। दोनों शीशियाँ जेब से निकालकर रोगी से कहने लगे—इस नीली शीशी में मालिश करने की और दूसरी में पीने की दवा है। देखो, गड़बड़ न करना। मालिश की दवा एक विकट ज़हर है।

मुझे भी एक बार सावधान करके दोनों शीशियाँ उन्होंने पलँग के पास टेबिल पर रख दीं। चलते समय डाकृर ने सुखरानी से भी चलने के लिए कहा।

सुखरानी ने कहा—बाबूजी, मैं यहाँ ठहरूँगी। इनके पास कोई स्त्री नहीं है। इनकी सेवा कौन करेगा?

मेरी स्त्री ने घबराकर कहा—नहीं, नहीं, आप कष्ट न करें। बुढ़िया दासी है। वह मा की तरह मेरी देख-रेख और सेवा करती है।

डाक्टर ने हँसकर कहा—वे सदा दूसरों की सेवा करती रही हैं। और से सेवा कराना उन्हें पसन्द नहीं।

कन्या को साथ लेकर डाक्टर जाने को तैयार हुए। इसी समय मेरी स्त्री ने कहा—डाक्टर साहब, ये बन्द घर में देर से बैठे हैं, इनको ज़रा आप अपने साथ टहलने के लिए ले जाइए।

डाक्टर ने मुझसे कहा—आइए, नदी-किनारे ज़रा टहल आवें।

तनिक नाहीं-नूहीं करके मैं राज़ी हो गया। चलते समय डाक्टर साहब ने फिर दोनों दवाओं के बारे में मेरी स्त्री को सावधान कर दिया।

उस दिन डाक्टर के घर में ही मुझे भोजन करना पड़ा। लौटकर आने में रात हो गई। आकर देखा, मेरी स्त्री तड़प रही है। पछतावे से मर्माहत होकर मैंने पूछा—क्या तुम्हारा दर्द बहुत बढ़ गया है?

मेरी स्त्री से उत्तर नहीं दिया गया। उसने चुपचाप मेरे मुँह की ओर देखा। उस समय उसका बोल बन्द हो गया था।

मैंने उसी समय रात को डाक्टर को बुलवाया।

पहले तो डाक्टर की समझ में कुछ न आया। अन्त को उन्होंने पूछा कि वह दर्द क्या बढ़ गया है? उस दवा की मालिश करो न?

अब डाक्टर ने मालिश की शीशी टेबिल पर से उठाई तो वह ख़ाली मिली।

मेरी स्त्री से उन्होंने पूछा—"क्या आपने भूल से यह दवा पी ली है?" मेरी स्त्री ने सिर हिलाकर उत्तर दिया—हाँ।

डाक्टर तुरंत बाइसिकिल दौड़ाकर घर से पंप लाने गये। मैं बेहोश की तरह अपनी स्त्री के पास ही पलँग पर गिर पड़ा।

तब, माता जैसे अपने बीमार बच्चे को सान्त्वना देती है वैसे ही मेरी स्त्री मेरे सिर को अपनी छाती के पास ले जाकर दोनों हाथ फेरकर अपने मन की बात मुझे समझाने की चेष्टा करने लगी। वह अपने करुण स्पर्श से ही मानो मुझसे बार-बार कहने लगी कि शोक न करो, अच्छा ही हुआ—तुम सुखी होओगे, और मैं भी सुख से मरूँगी।

डाक्टर जब लौटे तब मेरी स्त्री के जीवन के साथ ही सब प्रकार की यन्त्रणाओं का अन्त हो गया था।

फिर पानी पीकर और—"ओह, बड़ी गर्मी है!" कहकर गङ्गासहाय बरामदे से निकलकर बाहर टहलने लगे। यह अच्छी तरह मालूम पड़ा कि वे कहना नहीं चाहते, किन्तु मैं गोया कोई जादू करके उनसे सब बातें कहला रहा हूँ। उन्होंने फिर कहना शुरू किया—

सुखरानी से व्याह करके मैं अपने घर लौट आया।

सुखरानी ने अपने पिता की आज्ञा से मुझसे व्याह किया। किन्तु मैं जब उससे कोई प्यार की बात कहता था—प्रेमालाप करके उसके हृदय पर अधिकार जमाने की चेष्टा करता था तब वह हँसती न थी, गम्भीर भाव धारण कर लेती थी। मानो उसे खटका था। वह मुझपर विश्वास न करती थी।

इसी समय मैंने शराब पीना शुरू कर दिया और उसकी मात्रा दिन-दिन बढ़ने लगी।

मैं एक दिन शरद ऋतु में सन्ध्या के समय सुखरानी के साथ उसी चम्पातुरवाले घर के बाग़ में टहल रहा था। चारों ओर गहरे अन्धकार का पर्दा पड़ चुका था। घोंसलों में पक्षियों के पङ्ख फटफटाने का शब्द भी न सुनाई देता था; केवल तेज़ हवा के झोंकों से कुछ पेड़ों के हिलने का शब्द होता था।

थकन मालूम पड़ने पर सुखरानी उसी मौलसिरी के नीचे बने हुए सङ्गमरमर के चबूतरे पर आकर हाथ पर सिर रखकर लेट रही। मैं उसके पास ही बैठ गया।

वहाँ पर अँधेरा और भी घना हो रहा था। जितना आकाश वहाँ से देख पड़ता था वह तारागण से परिपूर्ण था। वृक्ष के तले झींगुरों की झनकार मानो अनन्त आकाश के वक्षःस्थल से गिरे हुए सन्नाटे के नीचे शब्द का एक पतला किनारा बुन रही थी।

उस दिन भी तीसरे पहर मैंने थोड़ी शराब पी थी। मन खूब चञ्चल और प्रसन्न हो रहा था। अन्धकार में जब कुछ सूझ पड़ने लगा तब वृक्षों की छाया के नीचे पाण्डुवर्ण से अङ्कित उस शिथिल अञ्चल और श्रान्त शरीरवाली रमणी की छायामूर्त्ति ने मेरे मन में एक अनिवार्य आवेग का सञ्चार कर दिया। जान पड़ा, मानो वह एक छाया है, उसे किसी तरह दोनों हाथों से पकड़कर मैं छाती से नहीं लगा सकता।

इसी समय अन्धकार-पूर्ण वृक्षों की चोटी पर आग सी जल उठी। इसके बाद कृष्णपक्ष का चन्द्रमा धीरे-धीरे वृक्षों के ऊपर आकाश में निकलता हुआ देख पड़ा। सफ़ेद पत्थर पर सफ़ेद वस्त्र पहने थककर लेटी हुई सुखरानी के चेहरे पर चाँदनी आकर पड़ी। अब मैं किसी तरह अपने को सँभाल न सका। पास आकर उसके हाथों को अपने हाथों में लेकर मैंने कहा—रानी, तुम मुझपर विश्वास नहीं करतीं, किन्तु मैं तुमको प्यार करता हूँ। मैं तुमको कभी भूल नहीं सकता।

बात मुँह से निकलते ही मैं चौंक सा पड़ा। जान पड़ा, ठीक यही बात मैंने एक दिन यहीं और किसी से भी कही थी! उसी दम उस मौलसिरी के पेड़ पर से, अन्य पेड़ों की चोटियों पर से चन्द्रमा के नीचे होकर नदी के इस पार से उस पार तक बड़ी तेज़ी से एक अट्टहास की लहर दौड़ गई! मैं नहीं कह सकता कि वह मर्मभेदी अट्टहास था या आकाशभेदी हाहाकार। मैं उसी समय पत्थर के चबूतरे पर से मूर्च्छित होकर नीचे गिर पड़ा।

होश आने पर देखा, मैं अपने कमरे में बिछौने पर पड़ा हुआ हूँ। सुखरानी ने पूछा—"एकाएक तुम्हें यह क्या हो गया?" मैं काँपकर उठ बैठा। मैंने कहा—तुमने वह आकाश को हिला देनेवाला अट्टहास नहीं सुना?

उसने हँसकर कहा—वह अट्टहास था? क़तार की क़तार पक्षी आकाश में उड़े जा रहे थे, उन्हीं के पङ्खों का शब्द था या अट्टहास? तुम ज़रा में ही डर जाते हो।

दिन के समय मुझे स्पष्ट मालूम हो गया कि वह पक्षियों के झुण्ड के पङ्खों का शब्द ही था। इस समय में रात को बगलों के झुण्ड नदी-तट पर शिकार खोजने को निकलते हैं। किन्तु शाम होने पर मैं उस विश्वास को नहीं बनाये रख सका। उस समय जान पड़ने लगा, चारों ओर के अँधेरे में जो हँसी जमा है वह किसी साधारण बात पर एकाएक अँधेरे को फाड़-कर आकाश में गूँज उठेगी। सन्ध्या के बाद सुखरानी से कोई बात कहने का मुझे साहस नहीं होता था।

तब सुखरानी को लेकर मैं चम्पापुर से नाव पर चढ़कर अपने घर के लिए रवाना हुआ। अगहन का महीना था। नदी की हवा लगने से सब डर दूर हो गया। दो दिन नाव पर बीते। दोनों दिन बड़े मज़े में कटे। चारों ओर के सौन्दर्य पर मोहित होकर सुखरानी भी मानो धीरे-धीरे अपने हृदय के द्वार को मेरे आगे खोलने लगी।

छोटी नदी होकर मेरी नाव गङ्गा में पहुँची। गङ्गा उस समय वर्षा के भयङ्कर भाव को छोड़कर रेती के उज्ज्वल पलँग पर शान्त भाव से आराम कर रही थी। दूसरे किनारे पर हरियाली और मनुष्यों से शून्य रेती दूर तक चमक रही थी। इस किनारे पर, तट पर बसे हुए, गाँवों के आम के बाग़ मानो गङ्गा के पास खड़े हाथ जोड़े प्राणों की भिक्षा माँग रहे थे। गङ्गा मानो नींद में इधर-उधर करवटें लेती थी और कगारों की मिट्टी कट-कटकर पानी में गिरती जाती थी।

यहीं पर हवा खाने का सुबीता देखकर मैंने नाव बँधवा दी।

सुखरानी को साथ लेकर मैं किनारे की रेती की सैर करने चला। टहलते-टहलते दूर निकल गया। अस्त हो रहे सूर्य की सुनहली छाया के लीन होते ही शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की विमल चाँदनी फैल गई। उस अनन्त उज्ज्वल रेती के ऊपर जब बे-रोक-टोक अपरिमित चाँदनी एकदम आकाश के छोर तक फैल गई तब जान पड़ा, मानो निर्जन चन्द्रलोक के असीम स्वप्नराज्य में हम दोनों घूम रहे हैं।

सुखरानी सिर से लपेटकर एक लाल शाल ओढ़े हुए थी। जब सन्नाटा घना हो आया, जब केवल एक सीमाहीन, दिशाहीन उज्ज्वलता और शून्यता के सिवा और कुछ न रह गया, तब सुखरानी ने धीरे-धीरे शाल के भीतर से अपना हाथ निकालकर मेरा हाथ पकड़ लिया। बहुत ही

पास आकर वह मानो अपने सारे जीवन, शरीर, मन और जवानी को मेरे आश्रित करके बिल्कुल मेरे सहारे होकर खड़ी हो गई। पुलकित प्रसन्न होकर उमङ्ग में मैंने समझा कि घर में रहने से यथेष्ट प्यार नहीं पाया जा सकता। इस प्रकार के अवारित खुले हुए अनन्त आकाश को पाये बिना दो मनुष्य परिपूर्ण स्थान नहीं पा सकते। तब जान पड़ा कि हम दोनों के घर नहीं है, द्वार नहीं है, हमें कहीं लौटकर जाना नहीं है। इसी तरह हाथ में हाथ दिये, लक्ष्यहीन मार्ग में उद्देश्यहीन भ्रमण के लिए, चाँदनी के प्रकाश से परिपूर्ण सन्नाटे में बिना किसी रुकावट के हम दोनों टहला करेंगे।

इसी तरह चलते-चलते एक जगह पर आकर मैंने देखा, उसी रेती के बीच में पास ही एक तालाब सा हो गया है। गङ्गा के हट जाने पर वहाँ जल भरा रह गया है।

उस रेती से घिरे हुए तरङ्गहीन स्थिर जल के ऊपर एक लम्बी सी चाँदनी की रेखा मानो मूर्च्छित सी होकर पड़ी हुई है। उसी जगह पर आकर हम दोनों खड़े हो गये। सुख-रानी ने न-जाने क्या सोचकर मेरे मुँह की ओर देखा। उसके सिर पर से शाल खिसक गया। मैंने उसके चाँदनी से प्रकाशित मुख पर, ठोड़ी पकड़कर, एक प्रेम का चिह्न अङ्कित कर दिया।

इसी समय उस निर्जन निःशब्द मरुभूमि में गम्भीर स्वर से न-जाने कौन कह उठा—कौन? कौन? कौन?

मैं चौंक पड़ा। मेरी स्त्री भी काँप उठी। किन्तु उसी दम हम दोनों को मालूम हो गया कि यह शब्द न अमानुषिक है, और न मनुष्य का ही है। यह रेती पर उड़ रहे जलचर पक्षियों का शब्द है। एकाएक इतनी रात को अपने निरापद एकान्त निवास-स्थान में मनुष्य-समागम देखकर वे चौंक उठे हैं।

उसी डर से चकित होकर हम दोनों जल्दी से अपनी नाव पर लौट आये। रात को नाव पर बने हुए बजरे के भीतर पलँग पर मैं सो रहा। सुखरानी थक गई थी, इससे लेटते ही उसकी आँख लग गई।

उस समय अँधेरे में न-जाने कौन, मेरे पलँग के पास खड़े होकर, सो रही सुखरानी की ओर दुर्बल उँगली उठाकर, मेरे कान में चुपके-चुपके अस्फुट स्वर से पूछने लगा—कौन? कौन? कौन?

जल्दी से उठकर मैंने दियासलाई खींचकर लालटेन जलाई। इसी समय मेरे पलँग को कँपाकर, नाव को हिलाकर, मेरे पसीने से तर शरीर के ख़ून को ठण्डा कर, 'हाहा हाहा' करके एक अट्टहास की लहर अँधेरे को भेदती हुई चली गई और दूर पर जाकर आकाश में लीन हो गई। गङ्गा पार होकर, गङ्गा की रेती पार होकर, उसके आगे बसनेवाले निद्रा से निःशब्द देश, गाँव, नगर आदि को नाँघती हुई वह ध्वनि मानो क्रमशः क्षीण से अत्यन्त क्षीण होकर असीम सुदूर

स्थान को चली गई—क्रमशः वह मानो जन्म-मृत्यु के देश को लाँघ गई—क्रमशः वह मानो सुई की नोक की तरह बहुत ही सूक्ष्म होती चली गई। ऐसा सूक्ष्म शब्द मैंने और कभी नहीं सुना। ऐसे सूक्ष्म क्षीण शब्द की कल्पना भी मैं कभी नहीं कर सका। मेरे सिर के भीतर मानो अनन्त आकाश है और वह शब्द दूर से दूर जाकर भी मेरे मस्तिष्क के बाहर नहीं जा सकता।

अन्त को जब बहुत ही असह्य हो उठा तब मैंने सोचा कि लालटेन बुझाये बिना नींद न आवेगी। जैसे ही लालटेन बुझाकर सोया वैसे ही मेरे पलँग के पास, मेरे कान के पास, अँधेरे में वही अव्यक्त शब्द सुन पड़ा—"कौन? कौन? कौन?" मेरे हृदय की धड़कन के साथ एक ताल में वही ध्वनित होने लगा—कौन, कौन, कौन; कौन, कौन, कौन। उस गहरी रात के सन्नाटे में मेरे बजरे के भीतर मेरी क्लाक घड़ी भी मानो सजीव होकर अपनी सुई सुखरानी की ओर बढ़ाकर शेल्फ़ के ऊपर से ताल देकर कहने लगी—कौन, कौन, कौन; कौन, कौन, कौन।

गङ्गासहाय का मुँह पीला हो आया। उनका गला भर आया। वे आगे कुछ न कह सके। मैंने उनके शरीर पर हाथ रखकर कहा—"थोड़ा पानी पी लीजिए।" इसी समय एकाएक डिब्बी बुझ गई। मैंने देखा, बाहर उजाला

फैल गया है। कौआ बोल उठा। पक्षी चहचहाने लगे। मेरे घर के सामने की सड़क पर एक बैलगाड़ी अपना बेतुका शब्द करती हुई चली गई। तब गङ्गासहाय के मुख का भाव एकदम बदल गया। डर का कोई चिह्न न रहा। रात की मोह की दशा में, काल्पनिक शङ्का के कारण, उन्होंने जो मेरे आगे इतना हाल कह डाला उसके लिए वे मानो अत्यन्त लज्जित और मेरे ऊपर हृदय से रुष्ट हो उठे। मुझसे कुछ कहे विना अकस्मात् जल्दी से उठकर चले गये।

उसी दिन आधी रात को गङ्गासहाय फिर मेरे घर में आकर पुकारने लगे—डाक्टर! डाक्टर!

तब सिंहासन से राजा ने शेखर की तरफ़ देखा। शेखर ने भी भक्ति, प्रणय और अभिमान के साथ एक प्रकार के सकरुण संकोच-पूर्ण भाव से राजा की ओर देखा। उसके बाद वे धीरे से उठकर खड़े हो गये। राम ने लोकरञ्जन के लिए जब दूसरी बार सीता की कठिन परीक्षा लेनी चाही थी तब सीता मानों इसी भाव से देखकर इसी तरह अपने स्वामी के सिंहासन के सामने खड़ी हुई थीं।

कवि की दृष्टि ने चुपचाप राजा को जताया—मैं आप ही का हूँ! आप अगर विश्व के सामने मुझे खड़ा करके परीक्षा करना चाहते हैं तो कीजिए। किन्तु—

इसके बाद कवि ने नीची नज़र कर ली।

पुण्डरीक सिंह की तरह खड़े हुए थे। शेखर चारों ओर से शिकारियों से घिरे हरिण की तरह खड़े हुए। शेखर नौजवान थे। उनका मुख रमणी के समान लज्जा और स्नेह के भाव से कोमल था। शरीर बहुत ही साधारण था। देखने से जान पड़ता था कि भाव का स्पर्श होते ही वह वीणा के तार की तरह काँपकर बज उठेगा।

शेखर ने सिर उठाये बिना ही बहुत धीमी आवाज़ में कविता पढ़ना आरम्भ किया। पहले का एक श्लोक शायद कोई अच्छी तरह नहीं सुन सका। इसके बाद धीरे-धीरे उन्होंने सिर उठाया—जहाँ दृष्टि डाली वहाँ से मानो सारी भीड़ और राजसभा की पत्थर की दीवार तक विगलित

होकर बहुदूरवर्त्ती अतीत काल में लीन हो गई। मधुर और स्पष्ट कण्ठस्वर काँपते-काँपते उज्ज्वल अग्निशिखा की तरह ऊपर उठने लगा। शेखर ने पहले चन्द्रवंशीय राजा के आदि-पुरुषों का इतिहास कहना आरम्भ किया। क्रमशः कितने ही युद्ध, शूरता, यज्ञ, दान और महान् अनुष्ठानों का वर्णन करते-करते कवि शेखर राजवंश की कथा को वर्त्तमान काल तक ले आये। अन्त को दूर की स्मृति में लगी हुई दृष्टि को उस अतीत काल से फिराकर कवि ने राजा के मुख पर स्थापित किया और राज्य की सारी प्रजा के हृदय की एक बृहत् अव्यक्त प्रीति को भाषा में, छन्द में, साक्षात् सभा के बीच मानो लाकर खड़ा कर दिया—बहुत-बहुत दूर से सैकड़ों प्रजाओं के हृदयप्रवाह ने दौड़ आकर राजपुरुषों के उस पुराने महल को एक महान् सङ्गीत से परिपूर्ण कर दिया। उस हृदयप्रवाह ने मानो उस महल की हर एक ईंट को स्पर्श किया, लिपटाया, चूमा और फिर वह ऊपर उसी खिड़की की ओर उठकर राजलक्ष्मीस्वरूपिणी अपराजिता के चरणों में स्नेहपूर्ण भक्ति के भाव से लोटने लगा। इसके उपरान्त वह हृदय-स्रोत मानो वहाँ से लौटकर महान् उल्लास से राजा और राजा के सिंहासन की सैकड़ों प्रदक्षिणाएँ करने लगा। अन्त को शेखर ने कहा—"महाराज, वाक्य-जाल की रचना में चाहे कोई हरा दे, पर भक्ति में मुझे कोई नहीं हरा सकता!" बस, काँप रहे कवि शेखर बैठ गये। तब आँसुओं से नहाई

होकर बहुदूरवर्त्ती अतीत काल में लीन हो गई। मधुर और स्पष्ट कण्ठस्वर काँपते-काँपते उज्ज्वल अग्निशिखा की तरह ऊपर उठने लगा। शेखर ने पहले चन्द्रवंशीय राजा के आदि-पुरुषों का इतिहास कहना आरम्भ किया। क्रमशः कितने ही युद्ध, शूरता, यज्ञ, दान और महान् अनुष्ठानों का वर्णन करते-करते कवि शेखर राजवंश की कथा को वर्त्तमान काल तक ले आये। अन्त को दूर की स्मृति में लगी हुई दृष्टि को उस अतीत काल से फिराकर कवि ने राजा के मुख पर स्थापित किया और राज्य की सारी प्रजा के हृदय की एक बृहत् अव्यक्त प्रीति को भाषा में, छन्द में, साक्षात् सभा के बीच मानो लाकर खड़ा कर दिया—बहुत-बहुत दूर से सैकड़ों प्रजाओं के हृदयप्रवाह ने दौड़ आकर राजपुरुषों के उस पुराने महल को एक महान् सङ्गीत से परिपूर्ण कर दिया। उस हृदयप्रवाह ने मानो उस महल की हर एक ईंट को स्पर्श किया, लिपटाया, चूमा और फिर वह ऊपर उसी खिड़की की ओर उठकर राजलक्ष्मीस्वरूपिणी अपराजिता के चरणों में स्नेहपूर्ण भक्ति के भाव से लोटने लगा। इसके उपरान्त वह हृदय-स्रोत मानो वहाँ से लौटकर महान् उल्लास से राजा और राजा के सिंहासन की सैकड़ों प्रदक्षिणाएँ करने लगा। अन्त को शेखर ने कहा—"महाराज, वाक्य-जाल की रचना में चाहे कोई हरा दे, पर भक्ति में मुझे कोई नहीं हरा सकता!" बस, काँप रहे कवि शेखर बैठ गये। तब आँसुओं से नहाई

हुई प्रजामण्डली ने जय-जयकार करके आकाश को मानो हिला दिया।

साधारण जनमण्डली के इस महोल्लास को धिक्कार-पूर्ण हँसी के द्वारा तिरस्कृत करके पुण्डरीक फिर उठ खड़े हुए। दर्प के साथ गरजकर उन्होंने पूछा—"वाक्य से बढ़कर श्रेष्ठ क्या है?" सभा में उसी दम सन्नाटा छा गया।

अब पुण्डरीक अनेक छन्दों में अपना अद्भुत पाण्डित्य प्रकट करने लगे। वेद-वेदान्त, आगम-निगम से यह बात प्रमाणित करने लगे कि विश्व में वाक्य ही सबसे श्रेष्ठ है; वाक्य ही सत्य है, वाक्य ही ब्रह्म है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश वाक्य के वश में हैं। अतएव वाक्य उनसे भी बड़ा है। ब्रह्मा चार मुखों से वाक्य को समाप्त नहीं कर पाते। शिव पाँच मुख से उसका अन्त न पाकर अन्त को चुप होकर समाधि लगाये उसी को खोज रहे हैं।

इसी तरह पाण्डित्य के ऊपर पाण्डित्य और शास्त्र के ऊपर शास्त्र का प्रयोग करके पुण्डरीक ने मानो आकाश को छूनेवाला एक सिंहासन बना दिया, और उस पर—मनुष्यलोक और देवलोक के मस्तक पर—वाक्य को बिठा दिया। इसके बाद फिर उसी तरह दर्प के साथ गरजकर पूछा कि वाक्य से बढ़कर कौन है?

पुण्डरीक ऐंठ के साथ चारों ओर देखने लगे। जब किसी ने कुछ उत्तर न दिया तब धीरे से बैठ गये। पण्डित लोग

"साधु, साधु", "धन्य, धन्य" कहने लगे। राजा चकरा गये। और, कवि शेखर ने उस महान् पाण्डित्य के आगे अपने को बहुत ही क्षुद्र समझा। उस दिन इसके बाद सभा-विसर्जन हो गया।

३

दूसरे दिन शेखर ने आकर गान आरम्भ कर दिया। यथा—वृन्दावन में पहले वंशी बजी तब गोपियों को मालूम न था कि किसने वंशी बजाई; वे नहीं जानती थीं कि कहाँ वंशी बज रही है। एक बार जान पड़ा कि दक्षिण-पवन से यह वंशी-ध्वनि सुनाई दे रही है। फिर जान पड़ा कि गिरि गोवर्द्धन के शिखर पर से ध्वनि आ रही है। फिर जान पड़ा, मानो उदयाचल के ऊपर खड़े होकर कोई मिलने के लिए बुला रहा है। फिर मालूम हुआ, मानो अस्ताचल के प्रान्त पर कोई बैठा हुआ विरह-शोक से रो रहा है। फिर जान पड़ा, मानो यमुना की हर एक लहर से वंशी की ध्वनि आ रही है। फिर जान पड़ा, आकाश का हर एक नक्षत्र मानो उस वंशी का छेद है। अन्त को जान पड़ा कि हर एक कुञ्ज में, हर एक राह में, हर एक फूल और फल में, जल-स्थल में, ऊँचे और नीचे, भीतर और बाहर, सर्वत्र वंशी बज रही है। वंशी क्या कहती है, यह बात कोई गोपी समझ न सकी, और वंशी के उत्तर में हृदय क्या कहना चाहता है,

यह भी कोई निश्चित न कर सकी। केवल हर एक की आँखों में आँसू भर आये और एक उज्ज्वल-सुन्दर श्याम-स्निग्ध मरण की आकांक्षा से सबके हृदय मानो उत्कण्ठित हो उठे।

सभा को भूलकर, राजा को भूलकर, अपने और पराये पक्ष को भूलकर, यश-अपयश, जीत-हार, उत्तर-प्रत्युत्तर आदि सब भूलकर शेखर अपने हृदय-कुञ्ज में मानो अकेले खड़े होकर यह वंशी का गान गा गये। उनके मन में केवल एक ज्योतिर्मयी मानसी मूर्त्ति अंकित थी, और कानों में वही नूपुरों की ध्वनि गूँज रही थी। कवि जब अपना वक्तव्य समाप्त करके बैठ गये तब एक अनिर्वचनीय माधुर्य से—एक बृहत् व्याप्त विरह की व्याकुलता से सभामन्दिर परिपूर्ण सा हो गया। किसी के मुँह से साधुवाद न निकला।

इस भाव की प्रबलता कुछ शान्त होने पर पुण्डरीक फिर सिंहासन के सामने खड़े हुए। खड़े होकर उन्होंने पूछा—"राधा कौन हैं? और कृष्ण कौन हैं?" फिर उन्होंने चारों ओर देखा। शिष्यों की ओर देखकर कुछ मुसकाकर पूछा—"राधा कौन हैं? और कृष्ण कौन हैं?" इसके उपरान्त वे असाधारण पाण्डित्य दिखाकर आप ही उसका उत्तर देने लगे।

कहा—राधा प्रणव हैं, ओंकार हैं, कृष्ण ध्यानयोग हैं और वृन्दावन दोनों भौंहों के बीच का बिन्दु है। इड़ा, सुषुम्ना, पिंगला, नाभिपद्म, हृदयकमल, ब्रह्मरन्ध्र आदि सब कुछ पुण्डरीक ने

"साधु, साधु", "धन्य, धन्य" कहने लगे। राजा चकरा गये। और, कवि शेखर ने उस महान् पाण्डित्य के आगे अपने को बहुत ही क्षुद्र समझा। उस दिन इसके बाद सभा-विसर्जन हो गया।

३

दूसरे दिन शेखर ने आकर गान आरम्भ कर दिया। यथा—वृन्दावन में पहले वंशी बजी तब गोपियों को मालूम न था कि किसने वंशी बजाई; वे नहीं जानती थीं कि कहाँ वंशी बज रही है। एक बार जान पड़ा कि दक्षिण-पवन से यह वंशी-ध्वनि सुनाई दे रही है। फिर जान पड़ा कि गिरि गोवर्द्धन के शिखर पर से ध्वनि आ रही है। फिर जान पड़ा, मानो उदयाचल के ऊपर खड़े होकर कोई मिलने के लिए बुला रहा है। फिर मालूम हुआ, मानो अस्ताचल के प्रान्त पर कोई बैठा हुआ विरह-शोक से रो रहा है। फिर जान पड़ा, मानो यमुना की हर एक लहर से वंशी की ध्वनि आ रही है। फिर जान पड़ा, आकाश का हर एक नक्षत्र मानो उस वंशी का छेद है। अन्त को जान पड़ा कि हर एक कुञ्ज में, हर एक राह में, हर एक फूल और फल में, जल-स्थल में, ऊँचे और नीचे, भीतर और बाहर, सर्वत्र वंशी बज रही है। वंशी क्या कहती है, यह बात कोई गोपी समझ न सकी, और वंशी के उत्तर में हृदय क्या कहना चाहता है,

यह भी कोई निश्चित न कर सकी। केवल हर एक की आँखों में आँसु भर आये और एक उज्ज्वल-सुन्दर श्याम-स्निग्ध मरण की आकांक्षा से सबके हृदय मानो उत्कण्ठित हो उठे।

सभा को भूलकर, राजा को भूलकर, अपने और पराये पक्ष को भूलकर, यश-अपयश, जीत-हार, उत्तर-प्रत्युत्तर आदि सब भूलकर शेखर अपने हृदय-कुञ्ज में मानो अकेले खड़े होकर यह वंशी का गान गा गये। उनके मन में केवल एक ज्योतिर्मयी मानसी मूर्त्ति अंकित थी, और कानों में वही नूपुरों की ध्वनि गूँज रही थी। कवि जब अपना वक्तव्य समाप्त करके बैठ गये तब एक अनिर्वचनीय माधुर्य से—एक बृहत् व्याप्त विरह की व्याकुलता से सभामन्दिर परिपूर्ण सा हो गया। किसी के मुँह से साधुवाद न निकला।

इस भाव की प्रबलता कुछ शान्त होने पर पुण्डरीक फिर सिंहासन के सामने खड़े हुए। खड़े होकर उन्होंने पूछा—"राधा कौन हैं? और कृष्ण कौन हैं?" फिर उन्होंने चारों ओर देखा। शिष्यों की ओर देखकर कुछ मुसकाकर पूछा—"राधा कौन हैं? और कृष्ण कौन हैं?" इसके उपरान्त वे असाधारण पाण्डित्य दिखाकर आप ही उसका उत्तर देने लगे।

कहा—राधा प्रणव हैं, ओंकार हैं, कृष्ण ध्यानयोग हैं और वृन्दावन दोनों भौंहों के बीच का बिन्दु है। इड़ा, सुषुम्ना, पिंगला, नाभिपद्म, हृदयकमल, ब्रह्मरन्ध्र आदि सब कुछ पुण्डरीक ने

इसी में घटित कर दिया। राधाकृष्ण शब्द के हर एक अक्षर की जितनी व्याख्याएँ और अर्थ हो सकते हैं सब उन्होंने कह सुनायें। कभी समझाया कि कृष्ण यज्ञ हैं, राधा अग्नि हैं; कभी समझाया कि कृष्ण वेद हैं और राधा षड्दर्शन हैं; कभी समझाया कि कृष्ण मीमांसा हैं और राधा तर्क हैं तथा कभी समझाया कि कृष्ण जयलाभ हैं और राधा उत्तर-प्रत्युत्तर हैं।

इतना कहकर राजा की ओर, सभ्यों की ओर, और अन्त को तीव्र हास्य के साथ, शेखर की ओर देखकर पुण्डरीक बैठ गये।

पुण्डरीक की अद्भुत शक्ति और योग्यता पर राजा मुग्ध हो गये, पण्डितों के अचरज की सीमा न रही। कृष्ण-राधा नामों की नई-नई व्याख्याओं में वह वंशी का गान, यमुना की लहरें और प्रेम का मोह एकदम दूर हो गया। पृथ्वी के ऊपर से मानो किसी ने वसन्त का हरा रङ्ग पोंछकर शुरू से अख़ीर तक पवित्र गोबर लीप दिया।

शेखर अपनी इतने दिनों की कविता को वृथा समझने लगे। इसके बाद कुछ कहने की शक्ति उनमें न रही। उस दिन भी सभा-विसर्जन हो गया।

४

तीसरे दिन पुण्डरीक ने व्यस्त, समस्त, द्विव्यस्त, द्विसमस्तक, और वृत्त, तार्क्ष्य, सौत्र, चक्र, पद्म, काकपद, आद्युत्तर, मध्यो-

त्तर, अन्तोत्तर, वाक्योत्तर, वचनगुप्त, मात्राच्युतक, च्युतदत्ताक्षर, अर्थगूढ़, स्तुतिनिन्दा, अपन्हुति, शुद्धापभ्रंश, शाब्दी, कालसार, पहेली आदि के द्वारा अपनी असाधारण अद्‌भुत शब्द-चातुरी दिखलाई। सुनकर सारी सभा के लोग सन्नाटे में आ गये।

शेखर जो कविता करते थे वह बहुत ही सीधी-सादी होती थी। उसे सुख-दुःख, उत्सव-आनन्द आदि के समय सर्व-साधारण लोग व्यवहार में लाते थे। आज सब लोगों ने यह स्पष्ट समझ लिया कि उसमें कुछ गुण या चमत्कार नहीं है। जैसे अगर चाहें तो वे भी वैसी रचना कर सकते हैं—केवल अनभ्यास, अनिच्छा और अवसर न मिलने के कारण ही वे नहीं लिखते। शेखर की कविता की बातें विशेष नई नहीं हैं, दुरूह भी नहीं हैं। उनसे संसार के लोगों को कोई नई शिक्षा नहीं मिलती—सुविधा भी नहीं होती। किन्तु आज पुण्डरीक के मुँह से जो सुना वह अद्‌भुत है। कल जो पुण्डरीक ने कहा था उसमें भी विशेष रूप से विचारने और सीखने की बातें थीं। पुण्डरीक के पाण्डित्य और निपुणता के आगे उन्होंने अपने कवि शेखर को बहुत ही बालक और साधारण आदमी समझा।

मछली के पूँछ पटकने से जल में जो गूढ़ आन्दोलन मच जाता है उसकी हर एक लहर—हर एक आघात का अनुभव जैसे सरोवर का कमल कर सकता है वैसे ही शेखर ने भी

अपने हृदय में चारों ओर सभा में उपस्थित दर्शकों के भाव का अनुभव कर लिया।

आज अन्तिम दिन है। आज जीत-हार का निर्णय हो जायगा। राजा ने अपने कवि की ओर देखा। उस दृष्टि का अर्थ यही था कि आज निरुत्तर होने से काम न चलेगा—तुमको यथाशक्ति चेष्टा करनी पड़ेगी।

शेखर किनारे पर उठकर खड़े हो गये। केवल दो ही एक बातें उन्होंने कहीं। यथा—"हे वीणापाणि श्वेतभुजा देवी, तुम यदि अपने कमलवन को शून्य करके आज इस मल्लभूमि में आकर खड़ी हुई हो तो तुम्हारे जो चरणानुरागी भक्त अमृत के प्यासे हैं उनकी क्या गति होगी?" ये बातें सिर को ज़रा ऊपर उठाकर करुण स्वर से कवि ने कहीं—मानो श्वेतभुजा वीणापाणि नीचे को दृष्टि किये राजा के अन्तःपुर में खिड़की के सामने खड़ी हैं।

तब पुण्डरीक उठकर ज़ोर से हँसे और "शेखर" शब्द के अन्तिम दो अक्षरों को लेकर धाराप्रवाह से श्लोक बनाने लगे। पुण्डरीक ने कहा—कमलवन के साथ खर का क्या सम्बन्ध है? और सङ्गीत में उसकी बहुत चर्चा रहने पर भी उक्त प्राणी ने क्या फल पाया है? इसके सिवा सरस्वती का आधार तो पुण्डरीक (कमल) ही हैं। महाराज के देश में उन्होंने क्या अपराध किया है जो यहाँ खर-वाहना बना कर उनका अपमान किया जा रहा है?

इस बात पर पण्डित लोग ऊँचे स्वर से हँसने लगे। सभासदों ने उनका साथ दिया। उनकी देखा-देखी सभा के लोग—जो समझे और जो नहीं समझे, सभी—हँसने लगे।

इसके मुँहतोड़ जवाब के लिए राजा अपने मित्र कवि को बार-बार अंकुश की तरह तीक्ष्ण दृष्टि के द्वारा उत्तेजित करने लगे। किन्तु शेखर उधर कुछ ध्यान न देकर उसी तरह अटल भाव से बैठे रहे।

तब राजा मन ही मन शेखर पर बहुत नाराज़ होकर सिंहासन से उतर आये। उन्होंने अपने गले से मोतियों की माला उतारकर पुण्डरीक को पहना दी। सभा के सब लोग धन्य-धन्य कहने लगे। अन्तःपुर में एक साथ ही बहुत से आभूषणों की झनकार सुन पड़ी। उसे सुनकर शेखर अपने आसन से उठे और धीरे-धीरे सभा से निकल गये।

५

कृष्णपक्ष की चौदस की रात थी। घना अँधेरा था। फूलों की महक लिये हुए दक्षिण पवन उदार विश्वबन्धु की तरह खुली हुई खिड़कियों-झरोखों से नगर के हर एक घर में प्रवेश कर रहा था।

घर की आलमारी से सब पुस्तकें उतारकर शेखर ने सामने ढेर कर दीं। उनसे छाँट-छाँटकर अपने लिखे ग्रन्थ अलग किये। बहुत दिनों के लिखे हुए कई ग्रन्थ थे। उनमें की

कुछ रचनाओं को वे स्वयं भूल गये थे। उन्हें उलट-पुलट-कर इधर-उधर देखने लगे। आज उन्हें अपनी सभी रचनाएँ दो कौड़ी की जँचने लगीं।

एक लम्बी साँस लेकर उन्होंने कहा—"जीवन भर में मैंने क्या यही सञ्चय किया है! कुछ बातें, अनुप्रास और छन्द!" आज शेखर को उसमें कोई सौन्दर्य, मनुष्य का कोई चिरकाल का आनन्द, विश्वसङ्गीत की प्रतिध्वनि या अपने हृदय के किसी गम्भीर आत्मा का प्रकाश नहीं देख पड़ा। रोगी को जैसे कोई भोजन नहीं रुचता, वैसे ही आज उन्हें कुछ भी नहीं रुचता। जो सामने हाथ में पड़ा उसी को हटा दिया। राजा की मित्रता, लोक-प्रसिद्धि, हृदय की दुराशा, कल्पना का कुहक—सब आज अँधेरी रात में शून्य विडम्बना जान पड़ने लगा।

तब उन्होंने एक ग्रन्थ को फाड़कर सामने जल रहे अग्नि-कुण्ड में डाल दिया। एकाएक उन्हें एक दिल्लगी की बात याद आई। उन्होंने हँसते-हँसते कहा—बड़े-बड़े राजा अश्व-मेध किया करते हैं—आज मैं काव्यमेध कर रहा हूँ! किन्तु वैसे ही उन्होंने सोचा कि यह उपमा ठीक नहीं हुई। अश्व-मेध का घोड़ा जब सर्वत्र विजय कर आता है तब अश्वमेध यज्ञ होता है; और मैं हारकर काव्यमेध करने बैठा हूँ। अगर और कुछ दिन पहले करता तो अच्छा होता।

एक-एक करके अपने सभी ग्रन्थों को उन्होंने आग में डाल दिया। आग की शिखा बहुत ऊँची उठने पर हृदय के

आवेग से कविजी दोनों हाथ ऊपर को उठाकर कहने लगे—तुम्हीं को अर्पण कर दिया, तुम्हीं को अर्पण कर दिया, तुम्हीं को अर्पण कर दिया; हे सुन्दरी अग्निशिखा, तुम्हीं को अर्पण कर दिया। इतने दिन से सभी आहुतियाँ तुमको अर्पण करता आ रहा था—आज एकदम पूर्णाहुति कर दी। बहुत दिनों से तुम मेरे हृदय के भीतर जल रही थीं। हे मोहिनी, हे अग्नि-रूपिणी, अगर मैं सुवर्ण होता तो उज्ज्वल हो उठता। किन्तु मैं तो तुच्छ तृण ठहरा। इसी से आज भस्म हो गया।

रात बहुत बीत गई। शेखर ने अपने घर के सब द्वार खोल दिये। वे जिन फूलों को पसन्द करते थे उन्हें शाम को ही बाग़ से चुन लाये थे। उज्ज्वल और सुगन्धित फूल थे। कवि ने वही फूल अपने उज्ज्वल बिछौने पर बिखरा दिये। घर में चारों ओर दीपक जलाकर रक्खे।

इसके उपरान्त शहद में एक पेड़ का ज़हरीला रस मिलाकर कवि चाट गये। फिर धीरे-धीरे अपने पलँग पर जाकर लेट रहे। शरीर शिथिल हो आया—आँखें बंद हो चलीं।

नूपुर बजे। दक्षिण-पवन के साथ किसी के सुगन्धित केशों की महक ने घर में प्रवेश किया। कवि ने आँखें बन्द किये ही किये कहा—देवि, क्या भक्त पर दया की है? इतने दिनों के बाद आज क्या दर्शन देने आई हो?

एक सुमधुर कण्ठ से उत्तर सुन पड़ा—हाँ कविवर, मैं आई हूँ।

शेखर ने चौंककर आँखें खोल दीं। देखा, शय्या के सामने एक सुन्दर स्त्री-मूर्त्ति है।

मौत की छाया से मलिन, आँसुओं से आकुल आँखों से स्पष्ट कुछ नहीं देख पड़ा। जान पड़ा, उनके हृदय की छायामयी प्रतिमा हृदय के भीतर से बाहर निकलकर मृत्यु के समय उनके सामने खड़ी हुई स्थिर दृष्टि से उन्हें देख रही है।

स्त्री ने कहा—मैं राजकुमारी अपराजिता हूँ।

कवि जी-जान से कोशिश करके उठ खड़े हुए।

"राजा ने न्याय से तुम्हारा विचार नहीं किया। तुम्हारी ही जय हुई है कविवर, इसी से आज मैं इस समय तुमको जयमाला पहनाने आई हूँ।" यह कहकर अपराजिता ने अपनी बनाई हुई फूलों की माला अपने गले से उतारकर शेखर के गले में पहना दी।

कवि का प्राणहीन शरीर पलँग के ऊपर गिर पड़ा।

———

प्रतिहिंसा

१

ज़मींदार कामतानाथ के भूतपूर्व दीवान की पोती और वर्त्तमान मैनेजर की स्त्री शिवदेई न-जाने किस बुरी साइत में कामतानाथ के घर उनके पोते के टीके में गई थी।

इसके पहले का इतिहास संक्षेप में कह देने से पाठकों को समझने में सुभीता होगा।

इस समय कामतानाथ भी नहीं हैं और उनके दीवान नीलकण्ठ भी नहीं हैं। काल ने दोनों को किसी अज्ञात लोक में भेज दिया है। किन्तु जब दोनों आदमी इस लोक में थे तब उनमें ख़ूब पटती थी। बे-मा-बाप के नीलकण्ठ के लिए जब कोई जीविका का उपाय न था तब कामतानाथ ने केवल चेहरा देखकर, उन पर विश्वास करके, उनको अपने छोटे से इलाक़े की देखरेख का काम सौंप दिया था। यथासमय यह प्रमाणित हुआ कि कामतानाथ ने ऐसा करके कुछ भूल नहीं की। कीड़ा जैसे अपने बिल में मिट्टी जमा करता है, स्वर्ग की कामना रखनेवाला जैसे पुण्य का सञ्चय करता है, वैसे ही नीलकण्ठ ने लगातार परिश्रम करके धीरे-धीरे कामता-नाथ की सम्पत्ति को बढ़ाना शुरू किया। अन्त को जब

नीलकण्ठ ने कौशल से बहुत ही थोड़े दामों में एक बड़ा भारी मौज़ा ख़रीदकर कामतानाथ की सम्पत्ति को बढ़ाया तब कामतानाथ भी एक अच्छे प्रतिष्ठित ज़मींदार गिने जाने लगे। मालिक की बढ़ती के साथ-साथ नौकर की भी उन्नति हुई। धीरे-धीरे उनके घर, ज़मीन, जोत-जमा और पूजा-पाठ की भी वृद्धि होने लगी। नीलकण्ठ भी मैनेजर से दीवानजी कहलाने लगे।

यही पहले का इतिहास है। वर्त्तमान समय में कामतानाथ के गोद लिये लड़के कुञ्जविहारी उनके उत्तराधिकारी हैं। नीलकण्ठ के सुशिक्षित पोतदमाद (पोती के पति) गौरीशङ्कर उनके इलाक़े के मैनेजर हैं। दीवान नीलकण्ठ अपने लड़के राधेश्याम पर विश्वास न करते थे। इसी कारण बुढ़ापे में जब उन्होंने नौकरी छोड़ी तब पुत्र को छोड़कर पोतदमाद गौरीशङ्कर को अपनी जगह दिला दी।

इलाक़े का कामकाज ख़ूब चल रहा है। पहले जैसे सब काम होते थे वैसे ही इस समय भी होते हैं। केवल एक बात में कुछ अन्तर पड़ गया है। वह यह कि इस समय मालिक-नौकर का नाता केवल कामकाज का है—दोनों में हृदय का सम्बन्ध कुछ भी नहीं। पहले समय में रुपये सस्ते थे और हृदय भी कुछ सुलभ था। इस समय सर्वसम्मति से हृदय का अपव्यय कुछ कम कर दिया गया है। जब अपने सगों को ही हृदय का भाव मिलना कठिन हो गया है तब ग़ैरों की कौन कहे!

इसी बीच कामतानाथ के घर पोते के टीके के न्यौते में दीवानजी की पोती शिवदेई उपस्थित हुई।

यह संसार भी कौतूहल-प्रिय भाग्यदेवता की एक रासायनिक परीक्षाशाला है! इसमें न-जाने कितने विचित्र चरित्र-वाले मनुष्यों को एकत्र करके उनके संयोग-वियोग से कितने ही चित्र-विचित्र अद्भुत इतिहासों की सृष्टि हुआ करती है। इस टीके के दिन भी दो प्रकार के आदमियों (वर-कन्या) का सम्बन्ध स्थिर होने से एक नवीन इतिहास की सृष्टि का आरम्भ हुआ।

घर में भोजन इत्यादि करके शिवदेई कुछ देर से अपने मालिक के घर पहुँची। कुञ्जविहारी की स्त्री ने जब विलम्ब का कारण पूछा तब शिवदेई ने घर के काम-काज और शरीर की अस्वस्थता आदि दो-एक कारण बतलाकर बात टाल देनी चाही। किन्तु ऐसे उत्तर से किसी को सन्तोष न हुआ।

असल कारण यद्यपि शिवदेई ने छिपाया तो भी वह किसी से छिपा न रहा। कारण यह था कि कुञ्जविहारी धनी अवश्य हैं, लेकिन कुल की मर्यादा में शिवदेई उनसे बहुत श्रेष्ठ है। वह अपनी उस श्रेष्ठता को भूल नहीं सकती। इसी कारण, इस डर से कि मालिक के यहाँ कोई भोजन करने का अनुरोध न करे, वह देर करके गई थी। उसकी इस चातुरी को देखकर उस समय भी भोजन करने के लिए

उससे बहुत कुछ कहा गया। किन्तु शिवदेई किसी का दबाव माननेवाली औरत नहीं—उसने भोजन नहीं किया।

एक बार कामतानाथ और नीलकण्ठ की ज़िन्दगी में इससे भी अधिक बात बढ़ गई थी। उस घटना का वर्णन करना यहाँ अनुचित न होगा।

शिवदेई देखने में बहुत ही सुन्दर थी। हमारी भाषा में सुन्दरी के साथ स्थिर बिजली की उपमा प्रसिद्ध है। यह उपमा प्रायः ठीक नहीं होती, किन्तु शिवदेई ऐसी ही थी। उसने मानो अपने में एक प्रबल वेग और प्रखर ज्वाला को किसी सहज शक्ति के द्वारा सहज ही अटल गाम्भीर्य के फन्दे से बाँध रक्खा था। उसके चेहरे, आँख और सब अङ्गों में बिजली सी नित्य निस्तब्ध होकर विराजमान थी। शिवदेई के शरीर में मानो बिजली ने अपनी चञ्चलता छोड़ दी थी।

इस सुन्दरी लड़की को देखकर कामतानाथ ने नीलकण्ठ के आगे अपने गोद लिये लड़के कुञ्जविहारी के साथ उसके ब्याह का प्रस्ताव किया था। स्वामी की भक्ति में नीलकण्ठ किसी से कम न थे। वे मालिक के लिए प्राण तक दे सकते थे। उनकी दशा में चाहे जैसी उन्नति हुई हो और स्वामी ने उनके साथ मित्र का ऐसा व्यवहार करके उनको चाहे जितना मुँह लगाया हो, पर वे स्वप्न में भी मालिक के सम्मान को नहीं भूले। प्रभु के सामने, यहाँ तक कि प्रभु की अनुपस्थिति में उनका प्रसङ्ग आ पड़ने पर वे नम्र भाव दिखाते थे। किन्तु

इस ब्याह के प्रस्ताव को उन्होंने किसी तरह स्वीकार नहीं किया। प्रभुभक्ति के ऋण को वे कौड़ी-कौड़ी चुका देते थे। फिर कुल-मर्यादा का महत्त्व, जो उन्हें मिलना चाहिए, उसे कैसे छोड़ देते! उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि कामतानाथ के बेटे के साथ वे अपनी पोती का ब्याह किसी तरह नहीं कर सकते।

नौकर का यह कुलगर्व कामतानाथ को अच्छा न लगा। उन्होंने आशा की थी कि इस प्रस्ताव से उनका भक्त सेवक अपने को अनुगृहीत समझेगा। किन्तु जब नीलकण्ठ ने उससे अपने को अनुगृहीत न समझा तब कामतानाथ इतने रुष्ट हुए कि कुछ दिनों तक उन्होंने नीलकण्ठ से वार्त्तालाप बन्द करके उनको बहुत ही मानसिक कष्ट दिया। मालिक के इस विमुख भाव ने वज्र की तरह नीलकण्ठ के हृदय में चोट पहुँचाई। लेकिन तो भी उन्होंने अपने से हीन कुल में लड़की देना पसन्द नहीं किया। उन्होंने एक बे-मा-बाप के ग़रीब कुलीन पुत्र को अपनी पोती ब्याह दी और उसे अपने घर रखकर पढ़ाना-लिखाना शुरू कर दिया।

उसी कुल-गर्वित बाबा की पोती शिवदेई ने अपने मालिक के घर जाकर भोजन नहीं किया। यह कहने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं कि इससे मालकिन—कुञ्जविहारी की स्त्री—के जी में सुमधुर प्रेमरस का सञ्चार नहीं हुआ। उस समय द्वेषभाव से भरी जग्गो को कल्पना की दृष्टि से शिवदेई की अनेक घमण्ड की बातें सूझ पड़ने लगीं। जैसे—

(१) शिवदेई बहुत से गहने पहनकर, ख़ूब सज-धजकर, आई थी। मालिक के घर में इतना ऐश्वर्य का आडम्बर करके मालिकों की बराबरी दिखाने की क्या आवश्यकता?

(२) शिवदेई को रूप का घमण्ड है। शिवदेई रूपवती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। और, छोटी औक़ात के आदमी के इतना अधिक रूप होना अनावश्यक और अन्याय हो सकता है, किन्तु उस रूप का घमण्ड कुञ्जविहारी की स्त्री की कोरी कल्पना थी। रूप के लिए किसी को कोई दोषी नहीं बना सकता। इसी से निन्दा करनी होती है तो विवश होकर गर्व की अवतारणा करनी पड़ती है।

(३) शिवदेई का दम्भ—जिसे बोलचाल में दिमाग़ कहते हैं। शिवदेई स्वभाव से ही गम्भीर थी। बहुत ही प्यारे जान-पहचानवालों के सिवा वह किसी से बहुत हेलमेल न करती थी। इसके सिवा छेड़कर 'परपञ्च' करने और आगे बढ़कर सब कामों में हाथ डालने की उसकी आदत न थी।

इसी तरह अनेक अमूलक और समूलक कारणों से कुञ्ज-विहारी की स्त्री धीरे-धीरे गरम होने लगी। वह अनेक अनावश्यक बहानों से "हमारे मैनेजर साहब की स्त्री", "हमारे दीवानजी की पोती" कहकर स्त्रियों को शिवदेई का परिचय देने लगी। उसने अपनी एक प्यारी और मुँहलगी दासी को सिखला दिया। वह शिवदेई के पास बैठकर बराबर की सहेली की तरह उसके हर एक गहने को हाथों से देख-

देखकर समालोचना करने लगी। कण्ठे और कड़ों की प्रशंसा करके उसने कहा—क्योंजी, क्या ये मुलम्मे के हैं?

शिवदेई ने बहुत ही गम्भीर भाव के साथ कहा—नहीं, पीतल के हैं!

कुञ्जविहारी की स्त्री ने शिवदेई को सम्बोधन करके कहा—अजी, तुम यहाँ खड़ी क्या कर रही हो? ज़रा वह सब टीके का सामान उठाकर कोठरी में रख आओ।

पास ही बहुत सी दासियाँ मौजूद थीं।

शिवदेई ने केवल एक बार अपनी उदार गम्भीर दृष्टि से कुञ्जविहारी की स्त्री की ओर देखा, और उसी दम चुपचाप कपड़े के थान और मिठाई का थाल उठाकर भीतर रख दिया।

इसी तरह कुञ्जविहारी की स्त्री ने स्त्रीजन-सुलभ निष्ठुर निपुणता के साथ जितने अपमान के बाण छोड़े उनमें से किसी को शिवदेई ने लगने न दिया। वे सब उसके निष्कलङ्क समुज्ज्वल सहज तेजस्विता के कवच से टकराकर आप ही चूर-चूर हो गये। उसके गम्भीर अचल भाव को देखकर कुञ्जविहारी की स्त्री का द्वेष और भी बढ़ गया। इस बात को जानकर शिवदेई चुपके से सबकी आँख बचाकर घर चली आई।

२

जो लोग शान्त भाव से सहन करते हैं उन्हीं के चोट लगती है। अपमान के आघात को यद्यपि शिवदेई

असीम तिरस्कार के साथ लौटा दिया था तथापि वह भीतर ही भीतर व्यथा से अधीर हो उठी।

जैसे शिवदेई के साथ कुञ्जविहारी के ब्याह की बात उठी थी वैसे ही एक समय शिवदेई के दूर के नाते के फुफेरे भाई रामचरण के साथ कुञ्जविहारी की स्त्री जग्गो के ब्याह की बात भी उठी थी। वही रामचरण इस समय कुञ्जविहारी के यहाँ का एक साधारण कर्मचारी है। शिवदेई की जन्म-भूमि के पास ही जग्गो का भी गाँव है। दोनों गाँवों में चार-पाँच कोस का अन्तर है। शिवदेई को याद है, लड़क-पन में जग्गो का बाप जग्गो को साथ लिये नीलकण्ठ के पास आया था और उसने बहुत कुछ चेष्टा की थी कि राम-चरण के साथ जग्गो का ब्याह हो जाय। उस समय छोटी सी बालिका जग्गो की असाधारण प्रगल्भता देखकर नीलकण्ठ और उनके घर की स्त्रियों को बहुत ही अचरज हुआ था। जग्गो की असाधारण प्रगल्भता के आगे मुँह चुरानेवाली लजीली शिवदेई ने अपने को बहुत ही असमर्थ और अनभिज्ञ समझा था। जग्गो का चेहरा और बातचीत करने की तेज़ी देख-सुनकर नीलकण्ठ बहुत ही प्रसन्न हुए। किन्तु बराबर का कुल न होने के कारण वे रामचरण के साथ जग्गो के ब्याह के प्रस्ताव पर राज़ी नहीं हुए। अन्त को उन्हीं की पसन्द और चेष्टा से अकुलीन कुञ्जविहारी के साथ जग्गो का ब्याह हो गया।

इन बातों को याद करके शिवदेई को कुछ भी सान्त्वना न मिली। बल्कि जग्गो का किया हुआ अपमान उसे और भी खटकने लगा। महाभारत में वर्णित शुक्राचार्य की कन्या देवयानी और शर्मिष्ठा की बात याद आई। देवयानी ने जैसे अपने मालिक की लड़की शर्मिष्ठा के दर्प को मिटाकर उसे दासी बनाया था उसी तरह अगर शिवदेई भी कर सकती तभी इस अपमान का ठीक-ठीक बदला चुक सकता। एक समय था जब, दैत्यों के लिए दैत्यगुरु शुक्राचार्य की तरह, कामतानाथ के परिवार के लिए शिवदेई के बाबा नीलकण्ठ की बड़ी ज़रूरत थी। उस समय वे चाहते तो कामतानाथ को हीनता स्वीकार करा सकते थे। किन्तु वे ऐसा न करके प्रभु की सम्पत्ति को भरसक बढ़ाकर सब प्रकार की सुश्रृङ्खला स्थापित कर गये हैं। इस कारण आज उन्हें स्मरण करके प्रभु के कृतज्ञ होने की कोई आवश्यकता नहीं। शिवदेई ने मन में कहा कि अगर मेरे बाबा चाहते तो सहज ही सोहौली मौज़ा अपने ही लिए ख़रीद लेते; क्योंकि उस समय उन्होंने उतना रुपया जमा कर लिया था। किन्तु उन्होंने वह न करके मौज़ा अपने मालिक को ख़रीद दिया। यह भी एक प्रकार का दान है। किन्तु यह बात आज स्वामी के वंश में मानो किसी को याद ही नहीं। हम लोगों के ही दिलाये हुए धनमान के गर्व से आज जग्गो को मेरा अपमान करने का अधिकार प्राप्त हुआ है—यह सोचकर शिवदेई को बहुत बुरा लगा।

घर आकर शिवदेई ने देखा कि स्वामी मालिक के यहाँ के निमन्त्रण में अपना काम पूरा कर आकर एक मोढ़े पर बैठे अख़बार पढ़ रहे हैं।

बहुत लोगों की धारणा है कि स्वामी और स्त्री का स्वभाव प्रायः एक सा होता है। इसका कारण यही है कि दैवसंयोग से कहीं-कहीं स्वामी और स्त्री के स्वभाव में मेल देखकर वह हमें ऐसा समुचित और संगत जँचता है कि हम उसी नियम को सर्वव्यापी समझने लगते हैं। जो हो, शिवदेई और गौरीशङ्कर का स्वभाव दो-एक ख़ास-ख़ास बातों में सच-मुच बहुत कुछ मिलता है। गौरीशङ्कर भी वैसे हर एक से हेलमेल बढ़ानेवाले आदमी नहीं। वे केवल काम करने के लिए घर के बाहर निकलते हैं। अपने काम को पूर्णरूप से करके और औरों से भी पूर्णरूप से उनका काम कराकर वे घर आकर मानो संसार की आत्मीयता के आक्रमण से बचने के लिए एक दुर्गम दुर्ग में प्रवेश करते हैं। बाहर अपने काम-काज, और घर में शिवदेई को लेकर ही वे अपने जीवन को चरितार्थ समझते हैं।

आभूषणों से मण्डित और ख़ूब श्रृङ्गार किये हुए शिवदेई जब घर के भीतर आई तब गौरीशङ्कर ने हँसकर उससे न-जाने क्या दिल्लगी की बात कहनी चाही, किन्तु उसके चेहरे को देखते ही वे रुक गये। उन्होंने शिवदेई से पूछा—क्या हुआ?

शिवदेई ने अपनी सारी चिन्ता और व्यथा को हँसी में उड़ा देने की चेष्टा करके कहा—हुआ क्या? स्वामीरत्न से मुलाक़ात हुई।

गौरीशङ्कर ने अख़बार को ज़मीन में फेंककर कहा—सो तो मुझको भी मालूम है। मैं पूछता हूँ, उससे पहले क्या हुआ?

शिवदेई ने एक-एक करके अपने गहने उतारते हुए कहा—उससे पहले स्वामी से आदर और प्यार प्राप्त हुआ है।

गौरीशङ्कर ने पूछा—आदर और प्यार कैसा?

शिवदेई स्वामी के पास आकर उनके गले में हाथ डाल-कर कहने लगी—जैसा कि तुमसे मिला करता है।

इसके बाद शिवदेई ने स्वामी के सामने एक-एक करके सब बातें कहीं। उसने स्वामी के आगे इस अप्रिय प्रसङ्ग को न उठाने की प्रतिज्ञा कर ली थी। किन्तु वह पूरी न हो सकी। इससे पहले भी वह कभी ऐसी प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सकी थी। बाहर के लोगों के सामने शिवदेई चाहे जितनी गम्भीर और संयत बनी रहे, किन्तु अपने स्वामी के आगे वह उस तरह नहीं रह सकती थी। स्वामी के आगे वह तिल भर भी अपने हृदय की बात नहीं छिपा सकती थी।

सब बातें सुनकर गौरीशङ्कर को बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने कहा—"मैं अभी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दूँगा।" वे

उसी समय कुञ्जविहारी को एक कड़ी चिट्ठी लिखने के लिए तैयार हो गये।

तब शिवदेई ने स्वामी के पैरों के पास बैठकर, स्वामी की गोद में सिर रखकर, कहा—इतनी जल्दी करने की ज़रूरत क्या है। चिट्ठी आज न लिखो। कल सबेरे जो करना हो, करना।

गौरीशङ्कर ने और भी उत्तेजित होकर कहा—नहीं, अब घड़ी भर की भी देर करना ठीक नहीं।

शिवदेई अपने बाबा के हृदय-सरोवर में एक कमल के फूल के समान खिल उठी थी। उसने अपने बाबा के हृदय से जैसे स्नेहरस को खींचा था वैसे ही अलक्ष्य रूप से बाबा के हृदय के अनेक भावों को भी ग्रहण कर लिया था। नीलकण्ठ को कामतानाथ के परिवार के ऊपर एक प्रकार की निष्ठा और भक्ति थी। यद्यपि शिवदेई को पूर्णरूप से वह निष्ठा और भक्ति नहीं प्राप्त हुई थी, तथापि उसके मन में यह भाव बद्धमूल हो गया था कि प्रभु-परिवार के हित में जीवन अर्पण कर देना हम लोगों का कर्त्तव्य है। उसके सुशिक्षित स्वामी चाहें तो वकालत कर सकते हैं, या और कोई सम्मानजनक काम कर सकते हैं। किन्तु अपनी स्त्री के हृदय के दृढ़ संस्कार का अनुसरण करके वे तत्पर होकर सन्तुष्ट चित्त से कुञ्जविहारी के इलाक़े की देखरेख कर रहे थे। यद्यपि शिवदेई को अपमान की बड़ी चोट लगी थी, तथापि यह

उसको पसन्द न आया कि उसके स्वामी कुञ्जविहारी की नौकरी छोड़ दें।

तब शिवदेई ने युक्ति सोचकर मृदु मधुर स्वर से कहा—कुञ्जविहारी का तो इसमें कुछ दोष नहीं, वे तो कुछ जानते ही नहीं। उनकी स्त्री के दोष पर बिगड़कर तुम उनसे बिगाड़ क्यों करते हो?

गौरीशङ्कर ज़ोर से हँस पड़े। उन्हें अपना इरादा सचमुच ही ठीक न जान पड़ा। उन्होंने कहा—यह बात तो अवश्य है किन्तु अब तुम उनके घर न जाना।

इतने ही में उस दिन की बात टल गई। स्वामी से आदर पाकर शिवदेई भी मानो बाहर के अनादर को भूल गई।

३

कुञ्जविहारी अपने इलाके का सारा काम गौरीशङ्कर को सौंपकर आप बेखटके थे। वे कुछ भी न देखते थे। जैसे कोई-कोई स्वामी घर की स्त्री को अत्यन्त निर्भर और विश्वास के कारण अवहेला की दृष्टि से देखते हैं वैसे ही, उसी दृष्टि से, कुञ्जविहारी अपनी ज़मींदारी को देखते थे। ज़मींदारी की आमदनी इतनी निश्चित और बँधी हुई थी कि उसकी ओर कुञ्जविहारी का ध्यान ही न था।

कुञ्जविहारी की इच्छा थी कि एक संक्षिप्त सुरङ्ग की राह से वे एकाएक एक ही रात में कुबेर के धन-भाण्डार में पहुँच

जायँ। इसी कारण वे अपने लोगों की सलाह से, गुप्तरूप से, अनेक प्रकार के रोज़गारों में हाथ डालते थे। कभी विचार होता था कि इलाक़े के पेड़ कटाकर बैलगाड़ियों के पहिये बनाने का कारख़ाना खोला जाय; कभी सलाह होती थी कि जङ्गल से लकड़ी कटाकर उसका रोज़गार किया जाय। कभी मनसूबा बाँधा जाता था कि रुपये लगाकर ग़ल्ले का रोज़गार अपने हाथ में कर लिया जाय। कुञ्जविहारी मन में समझते थे कि और लोग सुनेंगे तो हँसेंगे, इसी से वे अपने इन विचारों को सलाहकारों के सिवा और किसी के आगे प्रकट न करते थे। ख़ास कर गौरीशङ्कर को वे दबते थे। उनके मन में यह सङ्कोच था कि गौरीशङ्कर कहीं यह न समझें कि रुपये बरबाद किये जा रहे हैं। गौरीशङ्कर के आगे कुञ्जविहारी इस तरह रहते थे, जैसे गौरीशङ्कर ज़मींदार हैं और वे उनसे कुछ सालाना तनख़्वाह पाते हैं।

पूर्वोक्त घटना के दूसरे दिन से कुञ्जविहारी की स्त्री अपने स्वामी के कान भरने लगी। कहने लगी—तुम तो आप कुछ देखते नहीं हो। तुमको गौरीशङ्कर जो हाथ उठाकर देता है वही सिर झुकाकर ले लेते हो। इधर भीतर ही भीतर क्या सर्वनाश हो रहा है, यह कोई नहीं जानता। तुम्हारे मैनेजर की स्त्री जैसे गहने पहनकर आई थी वैसे गहने तुम्हारे घर में मैंने नहीं देखे। ये गहने उसने कहाँ से पाये और उसका दिमाग़ ही इतना कैसे बढ़ गया! इत्यादि।

कुञ्जविहारी की स्त्री ने गहनों का वर्णन कुछ अतिरञ्जित करके ही किया और कल्पना के बल से यह भी कहा कि ये बातें शिवदेई उसकी दासी से कह गई है।

कुञ्जविहारी दुर्बल प्रकृति के आदमी थे। एक ओर वे दूसरे का भरोसा करके भी रह नहीं सकते थे और दूसरी ओर कोई जो कुछ उनसे कह देता था उसी पर विश्वास कर लेते थे। उसी दम उनको यह विश्वास हो गया कि मैनेजर गौरीशङ्कर उनका इलाक़ा काटे लेते हैं। ख़ास कर इलाक़े के काम-काज को ख़ुद न देखने के कारण कल्पना की दृष्टि से कुञ्जविहारी तरह-तरह की विभीषिकाएँ देखने लगे। किन्तु वे यह भी नहीं जानते कि किस तरह गौरीशङ्कर की चोरी या बेईमानी पकड़ी जाय। यह साहस भी नहीं होता कि स्पष्ट रूप से उनसे कुछ कहें। बड़ी मुशकिल हुई।

गौरीशङ्कर के इतने चलते को देखकर सभी कर्मचारी उनसे जलते थे। ख़ास कर नीलकण्ठ ने अपने जिस दूर के नाते के भानजे रामचरण को नौकर रखा दिया था वही सबसे अधिक गौरीशङ्कर से जलता था। क्योंकि सम्बन्ध आदि के अनुसार वह अपने को गौरीशङ्कर के बराबर समझता था। साथ ही उसकी दृढ़ धारणा थी कि गौरी-शङ्कर उसके अपने सगे होकर भी केवल ईर्ष्या के कारण ही उसे उच्च पद नहीं देते। रामचरण का मत था कि पद मिलने पर उसकी योग्यता आप ही प्राप्त हो जाती है। ख़ास कर

मैनेजर के काम को वह बहुत ही तुच्छ समझता था। कहता था कि पहले ज़माने में जैसे रथ के ऊपर ध्वजा फहराया करती थी वैसे ही आजकल आफ़िस के काम में मैनेजर होता है। घोड़े बेचारे मेहनत करते-करते मरते हैं और ध्वजा रथ के साथ शेख़ी से हिला डुला करती है।

पहले कुञ्जविहारी इलाक़े के काम-काज की कुछ खोज-ख़बर न लेते थे। केवल पूर्वोक्त पहिये बनाने आदि के कारख़ाने खोलने के लिए एकाएक जब बहुत से रुपयों की ज़रूरत होती थी तब ख़ज़ाञ्ची को अकेले में बुलाकर पूछते थे कि इस वक़्त रोकड़ में कितने रुपये हैं। ख़ज़ाञ्ची के बतलाने पर कुछ इधर-उधर की बातें करके उससे रुपये माँगते थे, मानो रुपये पराये हैं। ख़ज़ाञ्ची दस्तख़त कराकर उनको रुपये दे देता था। उसके बाद कुछ दिनों तक कुञ्जविहारी गौरीशङ्कर से मुँह चुराये रहते थे। किसी तरह उनसे मुलाक़ात न हो—यही कुञ्जविहारी को अभीष्ट रहता था।

इससे कभी-कभी गौरीशङ्कर को बड़ी कठिनाई पड़ती थी। क्योंकि ज़मींदार का प्राप्य अंश ज़मींदार को देकर तहबील में अक्सर अमानती मालगुज़ारी अथवा अमला लोगों की तनख़्वाह आदि ख़र्च का रुपया जमा रहता था। वह रुपया इस तरह ख़र्च हो जाने पर बड़ी असुविधा होती थी। किन्तु कुञ्जविहारी उस रुपये को लेकर इस प्रकार चोरों की तरह छिपे-छिपे फिरते थे कि उनसे इस सम्बन्ध में कुछ कहने का

अवसर ही न मिलता था। पत्र लिखने से भी कुछ फल न होता था। क्योंकि कुञ्जविहारी की आँखों में लज्जा के सिवा और किसी तरह की लज्जा न थी। इसी से वे सामना करने में हिचकते थे।

क्रमशः कुञ्जविहारी जब बहुत हाथ-पैर बढ़ाने लगे तब गौरीशङ्कर ने खीझकर लोहे के सन्दूक की ताली अपने पास रखना शुरू किया। इस प्रकार कुञ्जविहारी का छिपकर रुपये लेना बिल्कुल बन्द हो गया। किन्तु कुञ्जविहारी ऐसी कमज़ोर तबियत के आदमी थे कि मालिक होकर भी स्पष्ट करके इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का बलप्रयोग न कर सके। इधर गौरीशङ्कर की यह चेष्टा वृथा थी। अभाग्य जिसका सहायक है उसे लोहे के सन्दूक की चाभी रोक नहीं सकती। बल्कि इससे उलटा ही फल हुआ। वह सब हाल आगे लिखा जायगा।

गौरीशङ्कर के इस कड़े नियम से कुञ्जविहारी मन ही मन बहुत कुढ़े और नाराज़ हुए। इसी समय उनकी स्त्री ने जब गौरीशङ्कर की ओर से उनके कान भर दिये तब उन्हें कुछ प्रसन्नता हुई। वे चुपके से निराले में गौरीशङ्कर के मातहतों को बुलाकर पूछताछ करने लगे। रामचरण ही प्रधान गुप्तचर का काम करने लगा।

कामतानाथ के समय में दीवान नीलकण्ठ बलपूर्वक परोसी ज़मींदार की ज़मीन पर दखल कर लेने में कुछ भी

सङ्कोच न करते थे। इसी तरह उन्होंने बहुतों की बहुत सी ज़मीन छीन ली थी। किन्तु गौरीशङ्कर ने कभी यह नहीं किया। इसके सिवा कोई मुक़द्दमा खड़ा होने पर वे आपस में ही निपटारा करने की चेष्टा करते थे। रामचरण ने कुञ्जविहारी को यही बात सुझाई। उसने स्पष्ट समझा दिया कि आपके शत्रुओं से घूस लेकर आपकी हानि करके वे मेल कर लेते हैं। रामचरण को सचमुच यही विश्वास था। वह मरने पर भी यह विश्वास नहीं छोड़ सकता था कि जिसके हाथ में क्षमता है वह घूस ज़रूर लेता है।

इस तरह गुप्त रूप से अनेकों मुखों की फूँक से कुञ्ज-विहारी के सन्देह की आग क्रमशः बढ़ने लगी। किन्तु प्रत्यक्ष रूप से कोई उपाय करने का उन्हें साहस न हुआ। एक तो सील, दूसरे यह आशङ्का कि कहीं गौरीशङ्कर बिगड़कर उनका कुछ अनिष्ट करने पर उतारू न हो जायँ। क्योंकि गौरीशङ्कर को कुञ्जविहारी का सब हाल मालूम था।

अन्त को कुञ्जविहारी की स्त्री ने स्वामी की इस काय-रता से जलकर, स्वामी से बिना कहे ही, गौरीशङ्कर को बुलाया और पर्दे के भीतर से कहा—अब तुमको रखने का विचार नहीं है। तुम रामचरण को सब हिसाब समझा दो।

इस बात का आभास गौरीशङ्कर को पहले ही मिल गया था कि कुञ्जविहारी को लोग उनकी ओर से भड़का रहे हैं। इसी कारण कुञ्जविहारी की स्त्री की यह बात

सुनकर उनको कुछ आश्चर्य नहीं हुआ। उसी समय कुञ्ज-विहारी के पास जाकर उन्होंने पूछा—क्या आप मुझको छुड़ाना चाहते हैं?

"नहीं, कभी नहीं।"

"क्या आपको मेरे ऊपर सन्देह करने का कोई कारण देख पड़ा है?"

कुञ्जविहारी ने बहुत ही अप्रतिभ होकर कहा—कुछ भी नहीं।

कुञ्जविहारी की स्त्री की बात का कुछ भी उल्लेख न करके गौरीशङ्कर अपने दफ़्तर में चले गये। उन्होंने घर में शिवदेई से भी कुछ नहीं कहा। इसी तरह और भी कुछ दिन बीते।

इसी समय गौरीशङ्कर को इन्फ़्लुएंज़ा रोग हो गया। बीमारी कुछ कठिन न थी, किन्तु कमज़ोरी के कारण बहुत दिन तक वे आफ़िस न जा सके।

उन्हीं दिनों मालगुज़ारी देने का समय था, और अन्यान्य बहुत से काम थे। इसी कारण एक दिन सवेरे एकाएक गौरीशङ्कर दफ़्तर पहुँचे।

उस दिन उनके आने की किसी को आशा न थी। सब लोग कहने लगे—आप बहुत कमज़ोर हो रहे हैं, घर जाकर आराम कीजिए। अभी काम-काज करना ठीक नहीं।

गौरीशङ्कर अपनी निर्बलता के प्रसङ्ग को उड़ाकर अपनी डेस्क के सामने जाकर बैठ गये। अमले के सब लोग कुछ

चञ्चल से हो उठे और आवश्यकता से अधिक मन लगाकर अपना-अपना काम करने लगे।

गौरीशङ्कर ने डेस्क खोलकर देखा, उसमें उनका कोई भी काग़ज़ न था। उन्होंने सबसे पूछा—"यह क्या?" सभी जैसे आकाश से गिर पड़े, मानों यह निश्चय न कर सके कि उन काग़ज़ों को कोई चोर ले गया है या भूत।

रामचरण ने कहा—अरे आप लोग बनें नहीं! सब को मालुम है कि उनके काग़ज़ात बाबूजी ख़ुद ले गये हैं।

गौरीशंकर ने क्रोध को सँभालकर कहा—क्यों?

रामचरण ने लिखते-लिखते कहा—सो हम लोग क्या जाने?

गौरीशङ्कर के अनुपस्थित रहने पर सुयोग पाकर रामचरण की सलाह से नई चाभी बनवाकर कुञ्जविहारी ने मैनेजर के प्राइवेट डेस्क को खोला था, और जाँच करने के लिए काग़ज़ात उठा ले गये थे। चतुर रामचरण ने वह बात छिपाई नहीं। उसकी यह इच्छा थी कि गौरीशङ्कर रुष्ट होकर ख़ुद इस्तीफ़ा दे दें।

गौरीशङ्कर काँपते हुए उठकर कुञ्जविहारी की तलाश में गये। उन्होंने कहला भेजा कि सिर में दर्द है। वहाँ से घर आते ही कमज़ोर गौरीशङ्कर बिछौने पर लेट रहे। शिवदेई जल्दी से दौड़ी हुई आई और उसने मानो अपने हृदय से स्वामी को ढक लिया। धीरे-धीरे गौरीशङ्कर ने सब हाल कहा।

स्थिर बिजली आज स्थिर न रह सकी। बार-बार साँस लेने से उसकी छाती फूल उठी—फैले हुए नेत्रों से चिनगारियाँ सी निकलने लगीं। ऐसे स्वामी का ऐसा अपमान! इतने विश्वास का यह पुरस्कार!

शिवदेई के उस अतिउग्र नीरव क्रोध-दाह को देखकर गौरीशङ्कर का क्रोध कुछ कम हो गया। वे मानो देवदण्ड से पापी को बचाने के लिए शिवदेई का हाथ पकड़कर बोले—कुञ्जविहारी का अभी तक बचपन नहीं गया, स्वभाव का भी कमज़ोर है। दस आदमियों की बातें सुनकर उसकी बुद्धि ठीक नहीं रही!

तब शिवदेई ने अपने दोनों हाथ स्वामी के गले में डाल दिये और उन्हें अपने पास लाकर आवेग के साथ हृदय से लगा लिया। एकाएक उसके नेत्रों से क्रोध का भाव दूर हो गया; आँसू गिरने लगे। पृथ्वी पर के सब अन्याय और अपमान से निकालकर वह जैसे अपने हृदयदेव को अपने हृदयमन्दिर में ही स्थापित कर लेना चाहती है।

यह निश्चय हुआ कि गौरीशङ्कर अभी इस्तीफ़ा दे देंगे। आज शिवदेई ने इसका प्रतिवाद नहीं किया। किन्तु फिर गौरीशङ्कर ने ख़ुद सोचा कि जब सन्देह करके स्वामी ही छुड़ा देने के लिए तैयार है तब नौकरी छोड़ देने से उसको क्या प्रतिफल मिलेगा? यही सोचकर गौरीशङ्कर ने नौकरी छोड़ देने का इरादा छोड़ दिया। किन्तु सब समय शिवदेई

का हार्दिक कष्ट और क्रोध उनके हृदय में काँटे की तरह खटकने लगा।

५

दूसरे दिन नौकर ने आकर गौरीशङ्कर से कहा—"कुञ्जू बाबू के यहाँ से ख़ज़ाञ्ची साहब आये हैं।" गौरीशङ्कर ने मन में सोचा कि कुञ्जविहारी ने सील के मारे ख़ुद न आकर ख़ज़ांची के मुँह से नौकरी से छुड़ा देने की सूचना भेजी है। गौरीशङ्कर ख़ुद एक इस्तीफ़ा लिखकर उसे लिये हुए ख़ज़ाञ्ची के पास गये। जाते ही उन्होंने वह इस्तीफ़ा ख़ज़ाञ्ची के हाथ में रख दिया।

ख़ज़ाञ्ची ने उसके सम्बन्ध में पूछताछ न करके कहा—सर्वनाश की नौबत आ गई है!

"क्या हुआ?"

उत्तर में ख़ज़ाञ्ची से उनको मालूम हुआ कि गौरीशङ्कर के सावधान रहने के कारण जब से कुञ्जविहारी का ख़ज़ाने से रुपये लेना बन्द हुआ तब से उन्होंने गुप्त रूप से जगह-जगह से क़र्ज़ लेना शुरू कर दिया था। एक के बाद दूसरा रोज़गार करके वे जितना ही प्रतारित और क्षतिग्रस्त होते थे उतना ही नये-नये असम्भव उपायों से अपनी हानि पूरी करने की चेष्टा करते थे। अन्त को इस समय बहुत सा ऋण उनके ऊपर हो गया है। गौरीशङ्कर जब बीमार थे तब,

उसी सुयोग में, कुञ्जविहारी तहवील से सब रुपये निकाल ले गये। जिस गाँव को नीलकण्ठ बहुत थोड़े दामों में ख़रीदकर कामतानाथ की सम्पत्ति में मिला गये थे वह बहुत दिनों से एक परोसी ज़मींदार के यहाँ रेहन हो चुका है। महाजन ने रुपये के लिए किसी तरह का तक़ाज़ा न करके अपना सूद जमा होने दिया है। इस समय मौक़ा समझकर वह दावा करके अपना सूद और असल वसूल करना चाहता है। यही विपत्ति है।

सुनकर कुछ देर तक गौरीशङ्कर सन्नाटे में खड़े रहे। इसके बाद उन्होंने कहा—आज तो कुछ उपाय मुझे सूझता नहीं; कल आकर मैं इस बारे में कर्त्तव्य निश्चित करूँगा।

ख़ज़ाञ्ची जब जाने लगा तब गौरीशङ्कर ने अपना इस्तीफ़ा उससे ले लिया।

भीतर आकर गौरीशङ्कर ने ख़ुलासा हाल शिवदेई को सुनाकर कहा—ऐसी अवस्था में तो मैं इस्तीफ़ा दे नहीं सकता।

शिवदेई कई मिनट तक पत्थर की मूर्त्ति की तरह स्थिर खड़ी रही। इसके बाद हृदय के विरोध को ज़बर्दस्ती दूर करके लम्बी साँस लेकर उसने कहा—नहीं, इस समय तुम इस्तीफ़ा नहीं दे सकते।

इसके बाद रुपये के लिए कोशिश होने लगी। उस मौज़े को छुड़ाने भर का रुपया जुटना कठिन हो गया। गौरीशङ्कर ने स्त्री से गहने माँगने के लिए कुञ्जविहारी को सलाह दी। इससे पहले रोज़गार करने के वास्ते कुञ्जविहारी

ने कई बार इसकी चेष्टा की थी, पर कुछ हाथ न लगा था। अबकी बहुत अनुनय-विनय करके, रो-धोकर, बहुत गिड़गिड़ा करके कुञ्जविहारी ने स्त्री से गहनों की भीख माँगी। किन्तु स्त्री किसी तरह गहने देने को राज़ी न हुई। उसने समझा कि मानो उसके चारों ओर से सब सहारे हटे जाते हैं। इसी से उसने उन आभूषणों को ही अपना एकमात्र अन्तिम अवलम्ब समझा। इसलिए वह उन्हें बड़े ही आग्रह के साथ छाती से लगाकर जी-जान से बचाने की चेष्टा करने लगी।

जब कहीं से रुपये न मिले तब शिवदेई की प्रतिहिंसा-कुटिल भौंहों के ऊपर तीव्र आनन्द की झलक देख पड़ी। उसने अपने स्वामी का हाथ पकड़कर कहा—जो तुम्हारा कर्त्तव्य था वह तुमने किया। अब तुम भी चुप होकर बैठो। जो होना होगा, होगा।

स्वामी के अनादर से प्रज्वलित पतिव्रता के क्रोध की आग अभी तक नहीं बुझी, यह देखकर गौरीशङ्कर मन ही मन हँसे। विपत्ति के समय असहाय बालक की तरह कुञ्जविहारी ने ऐसा आश्रित भाव दिखाया कि गौरीशङ्कर को उन पर दया हो आई। अब गौरीशङ्कर कुञ्जविहारी को किसी तरह छोड़ नहीं सकते। वे उस समय मन में यह सोच रहे थे कि मैं अपनी जायदाद रेहन रखकर रुपये जमा करूँगा। किन्तु उनका यह विचार सुनकर शिवदेई ने अपने सिर की क़सम खाकर कहा—नहीं, ऐसा न करना!

गौरीशङ्कर असमञ्जस में पड़कर सोचने लगे। वे धीरे से शिवदेई को समझाने की जितनी ही चेष्टा करने लगे उतना ही वह अपनी नाराज़गी दिखाने लगी। अन्त को कुछ उदास होकर गौरीशङ्कर चुप हो रहे।

तब शिवदेई ने अपना लोहे का सन्दूक खोलकर सब गहने एक थाल में रक्खे और वह भारी थाल बड़े कष्ट से दोनों हाथों से उठाकर मुसकाते हुए स्वामी के पास लाकर रख दिया।

बाबा की दुलारी शिवदेई को बाबा से हर साल एक-न-एक बहुमूल्य आभूषण मिला करता था। मितव्यय करनेवाले स्वामी के जीवन की अधिकांश कमाई के भी गहने ही बन गये थे। उन्हीं सब बहुमूल्य गहनों को स्वामी के आगे रखकर शिवदेई ने कहा—इन गहनों से अपने बाबा के दिये हुए दान का उद्धार करके फिर उनके प्रभु-वंश को दे दूँगी।

उसने डबडबाई हुई आँखें बन्द करके, सिर झुकाकर, मन में यह कल्पना की कि उसके वही विरल-श्वेत-केशधारी, शान्त, स्नेह-हास्यमण्डित, बुद्धिशाली, उज्ज्वल-गौरवर्ण पितामह इस समय यहाँ उपस्थित हैं और अपनी पोती के झुके हुए मस्तक पर स्नेह से शीतल हाथ रखकर चुपचाप आशीर्वाद दे रहे हैं।

वह मौज़ा रुपये देकर छुड़ा लिया गया। तब अपनी प्रतिज्ञा को तोड़कर आभूषणहीन शिवदेई फिर एक बार कुञ्ज-विहारी की स्त्री से मिलने गई। अब उसके हृदय में अपमान की किसी तरह की वेदना नहीं है।

दादा

१

राजनगर के ज़मींदार एक समय रईस माने जाते थे। उस ज़माने में रईसी का आदर्श बहुत सहज न था। इस समय जैसे राजा या रायबहादुर का ख़िताब प्राप्त करने के लिए दावतें देनी पड़ती हैं, नाच और घुड़दौड़ में शामिल होना पड़ता है, सलाम और सिफ़ारिशों की सहायता लेनी पड़ती है, वैसे ही उस समय सर्वसाधारण से रईस की उपाधि प्राप्त करने के लिए बहुत कठिन तपस्या करनी पड़ती थी।

हमारे राजनगर के ज़मींदार कलकतिया महीन धोतियों के किनारे फाड़कर उन्हें पहनते थे। क्योंकि किनारे की कठोरता से उनकी सुकोमल अमीरी व्यथित होती थी। वे लाखों रुपये ख़र्च करके बिल्ली के बच्चे की शादी करते थे, और सुना जाता है कि एक बार किसी जलसे में रात को दिन बनाने की प्रतिज्ञा करके असंख्य दीपक जलवाकर उन्होंने सूर्यकिरणों का अनुकरण करने के लिए सच्चे चाँदी के तार ऊपर से बरसवाये थे।

इसी से पाठक समझ सकते हैं कि उस समय के रईसों की रईसी चिरस्थायिनी नहीं होती थी—पीढ़ी दरपीढ़ी नहीं

बनी रहती थी। बहुत सी बत्तियोंवाले दीपक की तरह वे थोड़े दिनों की धूमधाम में सारा तेल—सारी सम्पत्ति—फूँक देते हैं।

भैया कृष्णचन्द्र उसी प्रसिद्ध यशस्वी राजनगर के ज़मींदार घराने के एक बुझे हुए रईस हैं। ये जब पैदा हुए थे तब दीपक की पेंदी में थोड़ा सा तेल रह गया था। इनके पिता के मरने पर राजनगर की रईसी श्राद्ध-शय्यादान आदि कुछ असाधारण कृत्यों में ही आख़िरी रोशनी दिखाकर एकदम बुझ गई। ऋण के लिए सारी सम्पत्ति बिक गई। जो बची वह इतनी न थी कि उससे पूर्वपुरुषों के यश की रक्षा की जा सके।

इसी से राजनगर को छोड़कर, बेटे को साथ लेकर भैया कृष्णचन्द्र लखनऊ जाकर रहने लगे। बेटा भी एक कन्या को छोड़कर इस गौरवहीन संसार को छोड़ परलोक को चल दिया।

मैं उनका लखनऊ का परोसी हूँ। मेरा इतिहास कृष्ण-चन्द्र के इतिहास से बिल्कुल विपरीत है। मेरे पिता ने अपनी चेष्टा से धन कमाया था। वे कभी घुटने से नीचे धोती नहीं पहनते थे, कौड़ी-कौड़ी का हिसाब रखते थे; रईस या बाबू कहलाने की उन्हें रत्ती भर लालसा न थी। इसलिए उनका अकेला लड़का मैं उनका बहुत ही कृतज्ञ हूँ। मैंने जितना लिखना-पढ़ना सीखा है, और अपनी प्राण-

रक्षा तथा मान-रक्षा के लिए यथेष्ट धन बिना चेष्टा के पाया है, उसी को मैं अपने लिए बड़े गौरव की बात समझता हूँ। सूने भण्डार में पुश्तैनी रईसी के उज्ज्वल इतिहास की अपेक्षा मैं तो लोहे के सन्दूक में रक्खे हुए बाप-दादे के प्रामिसरी नोटों को अधिक मूल्य की चीज़ समझता हूँ।

जान पड़ता है, इसी कारण, भैया कृष्णचन्द्र जब अपने पूर्व-गौरव के दिवालिये बैंक के ऊपर अभिमान-भरी डींग की लम्बी-चौड़ी चेक चलाते थे तब वह मुझे बहुत ही असह्य होता था। मुझे जान पड़ता था कि अपने हाथ से धनोपार्जन करने के कारण मेरे पिता के प्रति कृष्णचन्द्र के मन में एक प्रकार की अवज्ञा का भाव झलक रहा है। मैं मन में रूठकर सोचता था कि अवज्ञा के योग्य कौन है? जो अकेले ही जीवन भर कठोर त्याग स्वीकार कर, अनेक प्रलोभनों से बचकर, लोगों के मुख से मिलनेवाली तुच्छ प्रसिद्धि की अवहेला करके, निरन्तर सतर्क बुद्धि के कौशल से सब प्रति-कूल बाधाओं को परास्त करते हुए, चाँदी की तह पर तह जमाकर, अपने हाथ से सम्पत्ति का एक पिरामिड खड़ा कर गये वे केवल घुटनों के ऊपर धोती पहनने के कारण ही किसी से कम नहीं हो सकते!

उस समय थोड़ी अवस्था थी। इसी से मन ही मन नाराज़ होता था—तर्क करता था। इस समय अधिक अवस्था हो गई है, इसी से मन में सोचता हूँ कि हानि क्या है! मेरे

तो बहुत सी सम्पत्ति है। किस बात की कमी है? जिसके कुछ नहीं है वह यदि अहङ्कार करके सुख पावे तो उससे मेरा कुछ भी हर्ज नहीं—हाँ, उस बेचारे को एक प्रकार की सान्त्वना मिल जाती है।

यह भी मैंने देखा कि मेरे सिवा और कोई कृष्णचन्द्र के ऊपर नाराज़ न होता था। क्योंकि ऐसे निरीह आदमी बहुत कम देख पड़ते हैं। काम-काज में, सुख-दुःख में, वे बराबर परोसियों के शरीक होते थे। लड़के से लेकर बुड्ढे तक के मिलने पर वे हँसते हुए उससे प्रिय-सम्भाषण करते थे। जिसका जो कोई जहाँ होता था उस तक का उससे कुशल-मङ्गल पूछकर वे शिष्टाचार समाप्त करते थे। इसी कारण किसी से मुलाक़ात होने पर एक लम्बी-चौड़ी प्रश्नोत्तरी की रचना हो जाती थी। यथा—अच्छे तो हो? सुभद्रा अच्छी है? बड़े भैया अच्छे हैं? सुना था, मधुसूदन के लड़के के ज्वर हो आया था, वह अच्छा है? शिवचरण को बहुत दिनों से नहीं देखा, उनकी तबीयत तो अच्छी है? तुम्हारे बच्चे का क्या हाल है? घर के और सब लोग तो अच्छे हैं? इत्यादि।

कृष्णचन्द्र भैया ख़ूब साफ़-सुथरे रहते थे। कपड़े-लत्ते अधिक न थे, किन्तु जो कुछ—कुर्ता, चादर, यहाँ तक कि बिछाने का एक पुराना रैपर, तकिये का गिलाफ़ और एक छोटी दरी आदि—कपड़े थे उनको वे अपने हाथ से धूप में डालते और झाड़कर तहाकर अरगनी में टाँग रखते थे। जब

उन्हें देखा जाता तब वे सुसज्जित और प्रस्तुत से देख पड़ते थे। थोड़े से सामान से भी उन्होंने अपने घर को सजा रक्खा था।

नौकर के न होने पर अक्सर घर के किवाड़े बन्द कर वे अपने हाथ से ही धोती ख़ूब साफ़ धो लेते थे। उनकी बड़ी भारी ज़मींदारी और जायदाद मिट गई है, किन्तु एक बहुमूल्य गुलाबपाश, अतरदान, एक सोने की रकाबी, एक बहुमूल्य शाल और पुराने ज़माने का जामा और पगड़ी उन्होंने बड़ा यत्न करके, दारिद्र्य के ग्रास से, बचा रक्खी थी। कोई अवसर आ पड़ने पर वह सामान निकलता था और उससे राजनगर के जगत्प्रसिद्ध रईसों के गौरव की रक्षा होती थी।

इधर भैया कृष्णचन्द्र क्षणभंगुर मनुष्य होने पर भी बातों में जो अहङ्कार प्रकट करते थे—शेख़ी मारते थे—उसे वे मानो पूर्व पुरुषों के प्रति अपना कर्त्तव्य समझते थे। सभी लोग उसके लिए उन्हें प्रश्रय देते थे और उससे उनका बहुत कुछ मनोरञ्जन होता था।

महल्ले के लोग उन्हें दादा कहते थे। उनके पास बहुत लोग आया-जाया करते थे। किन्तु ग़रीबी में उनका तमाखू का ख़र्च न बढ़ जाय, इसी लिए अक्सर महल्ले का कोई न कोई आदमी सेर-आध सेर तमाखू ले जाकर कहता था कि दादा, ज़रा खाकर देखो, यह तमाखू कैसी है?

दादा तमाखू में चूना मिलाकर खाकर कहते कि वाह भाई, बहुत अच्छी तमाखू है। साथ ही दस-बीस रुपये सेर

की तमाखू का प्रसङ्ग उठाते और कहते थे कि वही तमाखू हमारे यहाँ खाई जाती है। यह भी पूछते थे कि उस तमाखू का ज़ायका देखोगे ?

सभी जानते थे कि अगर कोई ज़ायका देखने की इच्छा प्रकट करेगा तो चाभी का पता न लगेगा, अथवा बहुत ढूँढ़-ढाँढ़ के उपरान्त यह कहा जायगा कि पुराने नौकर गनेसा ने वह तमाखू न-जाने कहाँ रख दी है। ऐसी अवस्था में सभी कह देते थे—दादा रहने दो, वह तमाखू हमसे खाई न जायगी। हमारे लिए यही अच्छी है।

सुनकर दादा कुछ न कहकर केवल मुसका देते थे। इसके बाद जब मण्डली के सब लोग चलने लगते तब वृद्ध कृष्णचन्द्र एकाएक कह उठते थे कि यह तो सब हुआ, लेकिन अब यह बतलाओ, तुम सब कब हमारे यहाँ भोजन करोगे ?

सब कह उठते थे—अच्छा, एक दिन इसका निश्चय कर लिया जायगा।

दादा कहते थे—यही अच्छा है। ज़रा पानी बरसे, ठण्डक पड़े, नहीं तो वह गुरुपाक भोजन पचना कठिन हो जायगा।

जब पानी बरसता था तब कोई उनको उनकी प्रतिज्ञा की याद न दिलाता था। बल्कि बात छिड़ने पर सब कहते थे कि यह कीचड़-पानी की ऋतु निकल जाने दीजिए। उनके आगे सभी बन्धु-बान्धव यह बात स्वीकार करते थे कि उनका उस

छोटे से किराये के घर में रहना अच्छा नहीं मालूम पड़ता, किन्तु यह भी किसी से छिपा न था कि लखनऊ में ख़रीदने के लायक़ अच्छा घर मिलना कितना कठिन है। यहाँ तक कि आज छः-सात बरस से किसी मोहल्लेवाले को किराये का अच्छा मकान ढूँढ़े नहीं मिला।

अन्त को दादा कहते थे, तो जाने दो भाई, यहाँ तुम लोगों के पास रहता हूँ—यही बड़ा सुख है। राजनगर में बड़ा महल तो ख़ाली पड़ा है ही, किन्तु वहाँ जी नहीं लगता।

मुझे विश्वास है, दादा भी जानते थे कि सब लोग उनकी हालत को जानते हैं। और जब वे भूतपूर्व राजनगर की ज़मींदारी के गौरव को वर्त्तमान दिखाने का ढोंग रचते थे और सब लोग उसे सत्य सा मान लेते थे तब वे समझ लेते थे कि स्नेह के मारे ये ऐसा करते हैं।

किन्तु मुझे बड़ी खीझ होती थी। थोड़ी अवस्था में पराये निरीह गर्व को भी दमन करने की इच्छा होती है और हज़ारों गुरुतर अपराधों में मूर्खता ही सबसे बढ़कर असह्य जान पड़ता है। भैया कृष्णचन्द्र सोलहों आने मूर्ख नहीं थे। काम-काज में उनकी सहायता और सलाह को सभी अच्छा समझते थे। किन्तु राजनगर की रईसी का गौरव प्रकट करने के सम्बन्ध में वे बुद्धि से काम न लेते थे। सब लोग उन्हें चाहते और स्नेह करते थे, मनोरञ्जन से प्रसन्न होकर उनकी किसी असम्भव बात का प्रतिवाद न करते थे। यही कारण था कि वे

भी बहुत बढ़ाकर गौरव-घोषणा करने में तनिक भी न हिचकते थे। अन्य कोई भी जब दिल्लगी करके अथवा उनको सन्तुष्ट करने के लिए राजनगर की कीर्त्ति और प्रसिद्धि के सम्बन्ध में उनसे भी अधिक अत्युक्ति से काम लेने लगता तब वे बिना किसी सङ्कोच के उसे स्वीकार कर लेते थे। उन्हें स्वप्न में भी यह सन्देह न था कि इन बातों पर कोई रत्ती भर अविश्वास कर सकता है।

कभी-कभी मेरा जी चाहता था कि बुड्ढा जिस मिथ्या के क़िले में रहता है और समझता है कि यह चिरस्थायी है उसे सब के आगे दो ही तोपों से उड़ा दूँ। किसी पक्षी को सुविधा के अनुसार डाल के ऊपर बैठे देखकर शिकारी का जी चाहता है कि उसके गोली मार दे—पहाड़ के ऊपर किसी पत्थर को गिराऊ देखकर बालक का जी चाहता है कि लात मारकर उसे नीचे गिरा दे। जो चीज़ हर घड़ी गिरूँ-गिरूँ कर रही है, परन्तु ऐसी किसी चीज़ में लगी हुई है कि गिरती नहीं, उसे गिरा देने से ही उसकी सम्पूर्णता और दर्शक के मन को तृप्ति होती है। कृष्णचन्द्र भैया उर्फ़ दादा का झूठ इतना सरल था, उसकी जड़ इतनी कमज़ोर थी, वह सत्य की बन्दूक़ के निशाने के सामने ऐसे अभिमान से छाती फुलाये नाच रहा था कि दम भर में उसका विनाश करने के लिए हृदय में एक प्रकार का आवेग उपस्थित होता था। केवल आलस्य के कारण सर्व-सम्मत प्रथा का ख़याल करके ही मैं इस कार्य में हस्तक्षेप न करता था।

२

अपनी पहले की मानसिक प्रवृत्तियों की आलोचना करने से इस समय मुझे जान पड़ता है कि कृष्णचन्द्र के प्रति मेरे विद्वेष का और एक गूढ़ कारण था। उसे ज़रा विस्तार के साथ बतलाने की आवश्यकता है।

मैं बड़े आदमी का लड़का था। एम० ए० पास था। जवान होने पर भी, किसी कुसङ्ग में पड़कर, किसी बुरे काम में या शौक़ में शामिल नहीं हुआ था। पिता के मरने पर, किसी का दबाव न रहने से, मेरे स्वभाव में कुछ भी विकार उपस्थित नहीं हुआ था। इसके सिवा मेरा चेहरा ऐसा था कि अगर मैं अपने मुँह से अपने को ख़ूबसूरत कहूँ तो वह आत्म-प्रशंसा होने के कारण दूषित चाहे ठहराया जाय, पर झूठ नहीं हो सकता।

इस कारण ब्याह के बाज़ार में मेरे दाम बहुत अधिक होने में सन्देह न था। मैंने मन में दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं अपने पूरे दाम वसूल करूँगा। मैं किसी धनी बाप की अकेली, सुन्दरी, पढ़ी-लिखी लड़की की कल्पना किया करता था।

मुझे अपनी लड़की और साथ ही दो चार हज़ार का सामान देने को बहुत लोग तैयार थे। किन्तु उनमें से कोई मुझे अपने योग्य नहीं जँचता था। अन्त को भवभूति की तरह मेरी यह धारणा हो गई—

उत्पत्स्यते हि मम कोपि समानधर्म्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

बेटी के ब्याह के लिए चिन्तित अनेकों पिता नित्य आकर अनेक प्रकार से मेरी स्तुति कर जाते थे। ब्याह हो या न हो, किन्तु उनकी यह स्तुति मुझे बुरी न लगती थी। बल्कि यदि कोई स्तुतिपाठ न करता तो मैं उसे मन ही मन महा उजड्ड गँवार कहने में कुछ सङ्कोच न करता था। शास्त्र में लिखा है, देवता वर दें या न दें, किन्तु पूजा न मिलने से वे बहुत ही क्रुद्ध हो उठते हैं। नियमित रूप से पूजा पाने के कारण मेरे मन में भी उसी उच्च देवभाव का आविर्भाव हो चुका था।

पहले ही कह चुका हूँ कि दादा के एक पोती थी। उसको मैंने कई बार देखा था। पर मुझे कभी यह भ्रम नहीं हुआ कि वह रूपवती है। इस कारण मैंने मन में उससे ब्याह होने की कभी कल्पना तक नहीं की। किन्तु यह मैंने मन ही मन निश्चय कर लिया था कि दादा किसी और आदमी के द्वारा या आप ही औरों की तरह मुझे अपनी पोती ब्याहने का प्रस्ताव अवश्य करेंगे। क्योंकि मैं सुशील और सुपात्र लड़का हूँ। किन्तु दादा ने ऐसा नहीं किया।

सुना, वे मेरे किसी मित्र से कहते थे कि राजनगर के रईसों ने आज तक किसी बात के लिए ख़ुद जाकर किसी से प्रार्थना नहीं की। पोती चाहे जन्मभर क्वाँरी रहे, पर

वे किसी तरह अपनी इस कुल-प्रथा के विपरीत कार्य न करेंगे।

जैसे बिजली में संहारशक्ति के साथ-साथ प्रकाश भी रहता है वैसे ही मेरे स्वभाव में क्रोध और चिढ़ के साथ कौतुकप्रियता भी थी। एक दिन एकाएक मुझे एक दिल्लगी सूझी।

पहले ही कह चुका हूँ कि दादा को सन्तुष्ट करने के लिए अनेक लोग अनेक प्रकार की झूठी बातें गढ़-गढ़कर कहते थे। महल्ले में एक पेन्शनयाफ़्ता डिपुटीकलेक्टर रहते थे। वे अक्सर दादा से कहते कि दादा, छोटे लाट से जब मुलाक़ात होती है तब वे राजनगर के ज़मींदारों का हाल ज़रूर पूछते हैं। कहते हैं कि अवध में राजनगर के ज़मींदार ही सचमुच में पुराने और प्रतिष्ठित रईस हैं।

सुनकर दादा बहुत ख़ुश होते थे और उक्त डिपुटीकलेक्टर जब कभी दादा को मिलते तब वे कुशल-प्रश्न के उपरान्त उनसे पूछते थे—छोटे लाट साहब अच्छे हैं? उनकी मेम साहब अच्छी हैं? उनके लड़के-बाले सब अच्छे हैं?

दादा यह भी कहते थे कि अबकी लाट साहब जब प्रयाग से लखनऊ आवेंगे तब उनसे मिलने जाऊँगा। किन्तु उक्त डिपुटी साहब अच्छी तरह जानते थे कि राजनगर की प्रसिद्ध चार घोड़ों की गाड़ी जुतकर दरवाज़े पर जब तक आवेगी तब तक कई छोटे लाट बड़े लाट बदल जायँगे।

एक दिन सबेरे दादा के पास पहुँचकर उनको एकान्त में बुलाकर मैंने चुपके से कहा—दादा, कल मैं लाट साहब की 'लेवी' में गया था। उन्होंने राजनगर के ज़मींदारों की बात चलाई तो मैंने कहा—"हुज़ूर, राजनगर के भैया कृष्णचन्द्र तो लखनऊ में ही हैं।" सुनकर छोटे लाट ने खेद प्रकट किया कि वे आपसे किसी दिन मकान पर मिलने के लिए नहीं आ सके। फिर उन्होंने मुझसे कह दिया कि कल दोपहर को गुप्त रूप से वे तुमसे मुलाक़ात करने आवेंगे।

और कोई होता तो समझ लेता कि यह बात असम्भव है; और, और किसी के लिए कहा जाता तो दादा भी हँसने लगते। किन्तु ख़ास उन्हीं के सम्बन्ध की बात होने के कारण उनको मेरी इस दिल्लगी पर रत्ती भर अविश्वास न हुआ।

लाट साहब की अवाई सुनकर वे जैसे प्रसन्न हुए वैसे ही घबराये भी। बहुत सोचने पर भी वे यह निश्चय न कर सके कि लाट साहब को कहाँ बिठाना होगा, क्या करना होगा, किस तरह उनका सत्कार करना होगा, और किस तरह राजनगर के पूर्व-गौरव की रक्षा करनी होगी। इसके सिवा यह भी एक कठिनाई थी कि दादा अँगरेज़ी नहीं पढ़े थे। लाट साहब से बातचीत कैसे करेंगे!

मैंने कहा—इसके लिए कुछ चिन्ता नहीं। उनके साथ एक दुभाषिया रहता है। और दादा, लाट साहब ने बार

बार यह कह दिया है कि यह मुलाक़ात गुप्तरूप से होगी— इसलिए और कोई वहाँ पर न रहे।

दोपहर को, जब महल्ले के अधिकांश लोग दफ़्तरों और दूकानों में चले गये थे, कृष्णचन्द्र के डेरे के सामने एक गाड़ी आकर ठहरी।

चपरास लगाये हुए एक चपरासी ने आकर दादा को ख़बर दी कि लाट साहब आये हैं! दादा पहले ही से अपना पुराना जामा और पगड़ी पहने तैयार थे और पुराने नौकर गनेसा को भी उसके कपड़े पहनाकर लाट साहब की अभ्य-र्थना के लिए तैयार कर रक्खा था। छोटे लाट के आने की ख़बर पाते ही हाँफते काँपते वृद्ध कृष्णचन्द्र द्वार पर आ गये और झुककर बार-बार सलाम करते हुए अँगरेज़-वेशधारी मेरे एक कश्मीरी दोस्त को लाट साहब समझकर घर के भीतर ले गये।

भीतर कुर्सी पर उन्होंने अपना वही पुराना बहुमूल्य शाल बिछा रक्खा था। उसी पर नक़ली छोटे लाट को बिठाकर दादा ने उर्दू में एक अत्यन्त विनयपूर्ण लम्बी-चौड़ी वक्तृता पढ़ी और नज़र के लिए, बहुत कष्ट से बचाई हुई, सोने की रकाबी में रखकर एक मोहरों की माला सामने पेश की। पुराना नौकर गनेसा गुलाबपाश और अतरदान लिये खड़ा था!

दादा बार-बार खेद प्रकट करके कहने लगे—हुजूर अगर राजनगर के महल में पधारने की कृपा करते तो हम लोग

अपनी शक्ति भर कुछ सत्कार कर भी सकते—लखनऊ में, परदेस में, हमसे कुछ नहीं बना; इत्यादि।

मेरे दोस्त इसके उत्तर में लम्बी हैट समेत बहुत ही गम्भीर भाव से सिर हिलाते रहे। अँगरेज़ी क़ायदे के माफ़िक़ ऐसी जगह पर सिर पर टोपी नहीं रहनी चाहिए। किन्तु मेरे मित्र, इस डर से कि कहीं भेद खुल न जाय, यथासम्भव अपने को ढके हुए थे; इसी से उन्होंने टोपी नहीं उतारी। दादा और उनके नौकर के सिवा और सभी नक़ली छोटे लाट के छल को पहचान सकते थे।

दस मिनट तक इसी तरह सिर हिलाकर मेरे दोस्त उठ खड़े हुए। मेरे सिखलाने के अनुसार चपरासी ने सोने की रकाबी, मोहरों की माला, वह शाल और नौकर के हाथ से गुलाबपाश और अतरदान लेकर उसी गाड़ी पर रख दिया। दादा ने समझा, यही प्रथा होगी। मैं चुपचाप पास की एक कोठरी से यह तमाशा देख रहा था। हँसी को रोकने के कारण मेरे पेट में दर्द होने लगा।

अन्त को हँसी रोके नहीं रुकी। मैं वहाँ से निकलकर घर के भीतर दालान में जाकर हँसी के मारे लोटपोट हो गया। इसी समय एकाएक मैंने देखा कि बूढ़े की पोती एक तख़्त पर पड़ी फूल-फूलकर रो रही है।

मुझे एकाएक दालान में आकर इस तरह हँसते देखकर वह एकदम तख़्त से उठकर खड़ी हो गई। आँसुओं से उसका

गला भर आया। उसने क्रोध से गरजकर कहा—मेरे बाबा ने तुम लोगों का क्या बिगाड़ा है जो तुम लोग उनको धोखा देने और दिक़ करने आते हो—क्यों तुम आते हो—

इसके बाद उससे कुछ कहा नहीं गया। वह रोने लगी।

मेरी हँसी न-जाने कहाँ चली गई। मुझे अभी तक यही मालूम था कि मेरे इस काम में हँसी-दिल्लगी के सिवा किसी का कुछ बने-बिगड़ेगा नहीं। किन्तु उस समय एकाएक यह जान पड़ा कि मैंने किसी के अत्यन्त कोमल हृदय को बड़ी कड़ी चोट पहुँचाई है। दम भर में अपने किये काम की भयानक निष्ठुरता मुझे देख पड़ने लगी। लज्जा और पश्चात्ताप से, लात खाये हुए कुत्ते की तरह, मैं चुपचाप वहाँ से चल दिया। बूढ़े ने मेरा क्या बिगाड़ा था? उसके निरीह अहङ्कार ने तो कभी किसी प्राणी के हृदय को चोट नहीं पहुँचाई! फिर मेरे अहंकार ने क्यों ऐसा हिंस्र भाव धारण किया!

इसके सिवा और एक विषय में भी एकाएक मानो मुझे दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो गई। इतने दिनों तक मैं बूढ़े की पोती पार्वती को किसी क्वाँरे लड़के की प्रसन्न-दृष्टि पड़ने की प्रतीक्षा में रक्खी हुई बिक्री की वस्तु की तरह देखता था। सोचता था, मैंने पसन्द नहीं किया, इसी से वह यों पड़ी हुई है। दैवसंयोग से जो कोई पसंद करेगा उसी की वह होगी। किन्तु आज देखा कि उस घर के भीतर, उस बालिका की मूर्त्ति के भीतर एक मनुष्य-हृदय है। अपने सुख-दुःख और अनु-

राग-विराग को लेकर एक हृदय एक ओर अज्ञेय अतीत और एक ओर अचिन्त्य भविष्य नाम के दो अनन्त रहस्य-राज्यों की ओर पूर्व और पश्चिम में फैला हुआ है। जिस मनुष्य के हृदय है वह क्या केवल दहेज और रूप के काँटे पर तौलकर पसन्द करने के योग्य है?

रात भर नींद नहीं आई। दूसरे दिन सबेरे दादा को सोने की रकाबी आदि सब बहुमूल्य सामग्री लेकर चोर की तरह चुपके-चुपके मैं उनके घर गया। जी में था कि किसी से कुछ न कहकर चुपके से नौकर को सब सौंप आऊँगा।

नौकर को न देखकर मैं इधर-उधर देख रहा था। इसी समय पास के कमरे में मुझे बाबा-पोती की बातचीत सुन पड़ी। बालिका मधुर स्नेहपूर्ण स्वर से पूछ रही थी "दादा, कल लाट साहब ने तुमसे क्या कहा?" दादा ने बहुत ख़ुश होकर कहा—"लाट साहब हमारे घराने की ख़ूब बड़ाई कर रहे थे। उन्होंने मेरी बड़ी इज़्ज़त की।" यह सुनकर बालिका ने बहुत ही उल्लास और उत्साह प्रकट किया।

बूढ़े बाबा से इस क्षुद्र बालिका का यह सकरुण स्नेह-पूर्ण व्यवहार—जान-बूझकर, बाबा को कष्ट न हो इसलिए, झूठी बात में हाँ में हाँ मिलाना—देखकर मेरी आँखों में आँसू भर आये। मैं चुपचाप खड़ा रहा। दादा जब पोती के पास से कोठे पर गये तब मैं वह सब सामान लेकर पार्वती के पास गया और चुपके से उसके सामने रख आया।

वर्त्तमान काल की प्रथा के अनुसार मैं कभी दादा को प्रणाम नहीं करता था। आज शाम को जब गया तब उनको प्रणाम किया। बूढ़े ने मन में समझा होगा कि कल छोटे लाट को उनसे घर पर मिलने के लिए आते देखकर ही मेरे हृदय में उनके प्रति भक्ति-भाव उत्पन्न हो गया है। वे पुलकित होकर छोटे लाट की मुलाक़ात के सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें बनाकर कहने लगे। मैं भी कुछ प्रतिवाद न करके उनकी हाँ में हाँ मिलाने लगा। और जो लोग बैठे थे उन्होंने बूढ़े की बातों को आदि से अन्त तक अलिफ़लैला की कहानी समझा।

सबके उठकर चले जाने पर मैंने बहुत ही लज्जित दीन-भाव से एक प्रस्ताव किया। बूढ़े से कहा—यद्यपि राजनगर के धनी घराने से मेरे घराने की सरबर नहीं की जा सकती, तथापि आपकी पोती—

मेरा प्रस्ताव सुनकर दादा ने मुझे गले लगा लिया और आनन्द के आवेग से कह उठे—"भैया, मुझे तो ऐसे सौभाग्य की आशा भी न थी। मेरी पार्वती ने बड़े पुण्य किये थे, इसी से आज तुमने उसे ग्रहण करना स्वीकार कर लिया।" यह कहते-कहते उनकी आँखों से आँसू गिरने लगे।

आज यह पहला अवसर था कि दादा ने अपने गौरवशाली पुरखों के प्रति अपने कर्त्तव्य को भूलकर यह स्वीकार कर लिया कि वे ग़रीब हैं और मुझे लड़की देने से उनके वंश

का गौरव कम नहीं हुआ। मैं जिस समय दादा को अपमानित करने के लिए कुचक्र रच रहा था उस समय भी वे मुझे बहुत भला आदमी और सत्पात्र समझकर अपनी पोती के साथ मेरे ब्याह की कामना कर रहे थे।

व्यर्थ चेष्टा

मुन्नू और चुन्नू दोनों चचेरे भाई थे। दोनों में चुन्नू की दशा ख़राब थी। चुन्नू के बाप देवीदयाल को सम्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान न था; उसकी देखरेख का काम उनके भाई रामदयाल ही करते थे। रामदयाल ने भाई को यथेष्ट स्नेह देकर उसके बदले में उसकी सारी सम्पत्ति हड़प कर ली। केवल कुछ प्रामिसरी नोट बाक़ी रह गये। जीवन-समुद्र में वे नोट ही चुन्नू का एकमात्र सहारा थे।

रामदयाल ने बहुत खोजकर एक धनी की एकलौती लड़की से अपने बेटे मुन्नू का ब्याह करके सम्पत्ति बढ़ाने का और एक सुभीता कर रक्खा था। किन्तु देवीदयाल ने एक सात लड़कियों के बाप ग़रीब ब्राह्मण पर दया करके, एक पैसा न लेकर, उसकी बड़ी लड़की से अपने लड़के चुन्नू का ब्याह कर लिया। सातों लड़कियों को उन्होंने नहीं ब्याह लिया, इसका कारण यह था कि एक तो उनके एक ही लड़का था, और दूसरे लड़कियों के बाप ने वैसा करने के लिए अनुरोध भी नहीं किया। तथापि देवीदयाल ने उन लड़कियों के ब्याह में अपने समधी को यथेष्ट धन की सहायता दी थी।

पिता के मरने पर चुन्नू उन्हीं नोटों को पाकर सम्पूर्ण निश्चिन्त और सन्तुष्ट थे। काम-काज करने की बात पर

कभी विचार ही न करते थे। पेड़ की डाल काटकर बैठे-बैठे बड़े यत्न से छड़ी बनाना ही उनका काम था। गाँव के सब लड़के और जवान उनसे छड़ियाँ माँगा करते थे। वे उनको छड़ियाँ बना-बनाकर दिया करते थे। इसके सिवा उदारता की उत्तेजना से कनकौए बनाने में भी उनका बहुत सा समय बीतता था। मतलब यह कि जिसमें व्यर्थ परिश्रम और समय नष्ट होता है और काम कुछ नहीं होता वैसे काम को वे बड़े उत्साह के साथ करने के लिए तैयार रहते थे।

गाँव में जिस समय मन्दिरों के चबूतरों पर बैठकर लोग झगड़े-बखेड़े की बातें सोचते और प्रपञ्च रचते थे उस समय चुन्नू कलमतराश चाकू और वृक्ष की डाल लिये छड़ी बनाया करते थे। सबेरे से दोपहर तक और उसके उपरान्त स्नान-भोजन, शयन करके शाम तक अपने घर की चौपार में बैठे वे यही काम किया करते थे।

ईश्वर की कृपा से शत्रुओं को जलाने के लिए चुन्नू के दो लड़के और एक लड़की भी पैदा हुई।

उनकी स्त्री श्यामा का असन्तोष दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। मुन्नू के यहाँ जैसी धूमधाम है वैसी चुन्नू के यहाँ क्यों नहीं होती! मुन्नू की स्त्री चमेली के जैसा गहना-पाता और बनारसी सारी है, उसे बातचीत करने के ढंग और चाल-चलन का गौरव प्राप्त है, ठीक वैसा ही श्यामा को क्यों नहीं

प्राप्त होता! इससे बढ़कर युक्ति-विरुद्ध बात और क्या हो सकती है! दोनों ही तो एक ही घराने के आदमी हैं! भाई के हिस्से को धोखा देकर हड़पकर लेने ही से तो उनकी इतनी उन्नति देख पड़ती है! जितना ही पहले का हाल उसे मालूम हुआ उतना ही अपने ससुर और अपने ससुर के अकेले लड़के पर उसका अश्रद्धा और घृणा का भाव बढ़ गया। अपने घर का कुछ भी उसे अच्छा नहीं लगता। सभी सामान से असुविधा और मानहानि होती है। सोने का पलँग मुर्दे के भी ले जाने के लायक़ नहीं। रहने का घर जंगली जानवरों के भी रहने लायक़ नहीं है। घर का सामान देखकर ब्रह्मचारी और परमहंस की भी आँखों से आँसू बह चलेंगे। निखट्टू, दब्बू मर्द, मर्द की तरह, इस प्रकार की अत्युक्तियों का प्रतिवाद नहीं कर सकते। चुन्नू भी बाहर चैापार में बैठकर और भी अधिक मन लगाकर छड़ी छीलने का काम करने लगे।

किन्तु चुप रहने से ही विपत्ति नहीं टलती। कभी-कभी स्वामी की कारीगरी में बाधा डालकर श्यामा उन्हें घर के भीतर बुलाती और अत्यन्त गम्भीर भाव से दूसरी ओर देखती हुई कहती थी—अहीर का दूध बन्द कर दो!

चुन्नू तनिक चुप रहकर नर्मी के साथ कहते—दूध—बन्द करने से काम कैसे चलेगा?—लड़के क्या पियेंगे?

श्यामा जवाब देती—ज़हर!

किसी दिन बिल्कुल इसके विपरीत देख पड़ता था। श्यामा अपने स्वामी को बुलाकर कहती—मैं नहीं जानती, जो करना हो तुम करो।

उदास मुँह लिये चुन्नू कहते—क्या करना होगा?

स्त्री कहती—इस महीने के लिए सब सामान ले आओ।

वह इतना सामान बता देती कि उससे बड़ी धूमधाम से राजसूय यज्ञ किया जा सके।

चुन्नू अगर साहस करके पूछते—"इतने सामान की क्या ज़रूरत," तो उत्तर मिलता—तो फिर लड़के-वालों को भूखों मरने दो और मैं भी अपने बाप के घर जाती हूँ। तुम अकेले रहकर थोड़े ख़र्च में गिरिस्ती चलाओ।

इसी तरह धीरे-धीरे चुन्नू को मालूम हो गया कि अब बैठे-बैठे छड़ी छीलने से काम नहीं चल सकता। कुछ उपाय करना चाहिए। नौकरी या रोज़गार तो चुन्नू कर नहीं सकते। अतएव कुबेर के भण्डार में घुसने के लिए किसी संक्षिप्त सरल मार्ग का आविष्कार करना चाहिए।

एक दिन रात को लेटे-लेटे चुन्नू ने कातर होकर प्रार्थना की कि हे माता जगदम्बा, स्वप्न में यदि किसी असाध्य रोग की पेटेन्ट दवा बतला दो, तो मैं अख़बार में विज्ञापन दे लूँगा।

उसी रात को सपने में चुन्नू ने देखा, उनकी स्त्री उनसे रूठकर विधवा-विवाह करने की प्रतिज्ञा किये बैठी है। चुन्नू यह कहकर उसमें आपत्ति कर रहे थे कि धन न होने के

कारण व्याह के योग्य गहने कहाँ मिलेंगे। स्त्री ने यह कहकर स्वामी के तर्क का खण्डन कर दिया कि विधवा को गहनों की क्या ज़रूरत! जान पड़ता है कि इसका एक बहुत अच्छा जवाब है, पर वह जवाब उन्हें स्मरण नहीं आता। इसी समय चुन्नू की आँख खुल गई। देखा, सबेरा हो गया है। उनकी स्त्री का क्यों विधवा-विवाह नहीं हो सकता, इसका मुँह-तोड़ जवाब उसी समय उन्हें याद आ गया, और शायद इसके लिए वे कुछ दुःखित भी हुए।

सबेरे नहा-धोकर भोजन करने के उपरान्त चुन्न चौपार में बैठे छड़ी छील रहे थे। इसी समय एक फ़क़ीर ने द्वार पर आकर 'अलख' की सदा लगाई। उसी दम बिजली की तरह चुन्नू को अपने भावी ऐश्वर्य की उज्ज्वल मूर्त्ति देख पड़ी। बहुत आदर-सत्कार करके चुन्नू ने फ़क़ीर को भोजन कराया। बहुत सेवा-शुश्रूषा के बाद चुन्नू को मालूम हुआ कि बाबा सोना बनाना जानते हैं। वह विद्या चुन्नू को सिखाने के लिए भी बाबा राज़ी हो गये।

श्यामा भी ख़ुशी के मारे मानो नाच उठी। 'काँवर' हो जाने पर जैसे आदमी को सब पीला ही पीला देख पड़ता है वैसे ही श्यामा को संसार भर में सोना ही सोना देख पड़ने लगा। कल्पना-कारीगर के द्वारा सोने का पलँग, घर का सामान और दीवार तक सोने से मढ़ाकर मन ही मन श्यामा ने कहा कि चमेली अब आकर मेरे वैभव को देखे।

बाबाजी नित्य डेढ़ सेर दूध और सेरभर हलवे पर हाथ फेरने लगे। इस प्रकार बाबा ने सोना बनाने का रंग जमाकर चुन्नू के प्रामिसरी नोटों को दुहकर बहुत सा रौप्य-रस निकाल लिया।

छड़ी, कनकौए आदि माँगनेवाले लोग चुन्नू के बन्द द्वार को ठोंक-ठोंककर चले जाने लगे। चुन्नू के बाल-बच्चे ठीक समय पर खाने को नहीं पाते, गिर-पड़कर सिर फोड़ लेते हैं, रो-रोकर आकाश सिर पर उठा लेते हैं, लेकिन चुन्नू या चुन्नू की स्त्री का उधर ध्यान नहीं। दोनों चुपचाप अग्निकुण्ड के सामने बैठे-बैठे कड़ाह की ओर एकटक देखा करते हैं। कोई कुछ बोलता तक नहीं।

दो प्रामिसरी नोट उस सोने की आग में स्वाहा कर देने के बाद एक दिन बाबाजी ने कहा—कल सोने का रङ्ग आवेगा।

उस दिन रात को चुन्नू या श्यामा को नींद नहीं आई। स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर सोने की पुरी की कल्पना करने लगे। उसके सम्बन्ध में, बीच-बीच में दोनों में मतभेद और वाद-विवाद भी हुआ, किन्तु आनन्द के आवेग से उसकी मीमांसा होने में कुछ भी देर नहीं लगी। उस रात को औरत और मर्द में ऐसा हेलमेल हो गया कि एक ने दूसरे के लिए अपनी अपनी राय को कुछ-कुछ बदलने में अधिक हठ नहीं किया।

दूसरे दिन बाबाजी का पता न था। चारों ओर जो सोना ही सोना देख पड़ रहा था वह न-जाने कहाँ उड़ गया—

अब अन्धकार ही अन्धकार देख पड़ने लगा। इसके बाद से सोने की खटिया, घर के सामान और दीवार में पहले से चौगुनी ग़रीबी और जीर्णभाव प्रकट होने लगा।

अब से घर के किसी काम में अगर चुन्नू कुछ अपनी सम्मति प्रकट करने लगते तो श्यामा तीव्र-मधुर स्वर से कहने लगती—"तुम्हारी समझदारी देख चुकी हूँ, बस अब रहने दो।" चुन्नू एकदम चुप हो जाते थे।

श्यामा ने ऐसा एक श्रेष्ठता का भाव धारण कर लिया, मानो सोना बनाने के काम पर उसने बिल्कुल विश्वास ही नहीं किया था।

स्त्री को कुछ सन्तुष्ट करने के लिए अपराधी चुन्नू तरह-तरह के उपाय सोचने लगे। एक दिन एक बड़े काग़ज़ के पैकेट में गुप्त उपहार लेकर, स्त्री के पास जाकर, ख़ूब हँसकर, अत्यन्त चतुरता के साथ सिर हिलाकर चुन्नू ने कहा—अच्छा बतलाओ, मैं क्या लाया हूँ?

स्त्री ने अपने मन के कौतूहल को छिपाकर उदासीन भाव से कहा—क्या मालूम! मैं क्या औलिया हूँ!

चुन्नू ने अनावश्यक समय नष्ट करते हुए पहले धीरे-धीरे पैकेट के ऊपर की रस्सी खोली, उसके बाद मुँह से फूँककर उसके ऊपर की धूल झाड़ी। फिर धीरे-धीरे काग़ज़ हटाकर मामूली लीथो की छपी हुई एक राधाकृष्ण की रङ्गीन तसवीर निकालकर श्यामा के आगे रख दी।

श्यामा को उसी दम चमेली के कमरे में लगी हुई बड़ी-बड़ी क़ीमती तस्वीरों का स्मरण हो आया। बहुत ही घृणा और अवज्ञा के भाव से उसने कहा—ले जाओ, ले जाओ; इसे अपनी कोठरी में लगाकर बैठे-बैठे देखा करो। मुझे इसकी ज़रूरत नहीं।

उदास होकर चुन्नू ने मन में सोचा कि अन्यान्य अनेक क्षमताओं के साथ स्त्रियों को राज़ी करने की योग्यता भी विधाता ने उनको नहीं दी।

इधर आसपास के गाँवों में जितने ज्योतिषी थे सबको श्यामा ने अपना हाथ और स्वामी की जन्मपत्री दिखाई। सभी ने कहा कि वह विधवा होने के पहले ही मर जायगी। किन्तु उस परमानन्दमय परिणाम के लिए श्यामा अधिक उत्कण्ठित न थी। इसी कारण केवल इतने से उसका कौतूहल नहीं निवृत्त हुआ।

यह भी श्यामा को मालूम हुआ कि शीघ्र ही दर्जनों बाल-बच्चों से उसका घर भर जायगा। यह सुनकर श्यामा ने कुछ विशेष प्रसन्नता नहीं प्रकट की।

अन्त को एक "जगद्विख्यात" ज्योतिषी ने हिसाब लगाकर बताया कि एक-दो साल में ही यदि चुन्नू को अनायास बहुत सी दौलत मिल न जाय तो वह अपने पोथी-पत्रे को आग में जला देगा। ज्योतिषी की ऐसी कठिन प्रतिज्ञा सुनकर श्यामा को उसकी भविष्यवाणी पर सन्देह नहीं रह गया।

ज्योतिषी तो चार-पाँच रुपये लेकर चम्पत हो गया, किन्तु चुन्नू को खाना-पीना हराम हो गया। साधारण रूप से धनोपार्जन के कुछ प्रचलित मार्ग हैं—जैसे खेती, नौकरी, रोज़गार, चोरी और ठगविद्या। किन्तु दैवदत्त धन को प्राप्त करने के लिए वैसा कोई निर्दिष्ट उपाय नहीं है। इसी से श्यामा उनको जितना ही उत्साहित करती और मीठी डाँट बताती उतना ही चुन्नू को धनोपार्जन की कोई राह किसी ओर नहीं देख पड़ती थी। चुन्नू कुछ भी निश्चित नहीं कर सके कि कहाँ खुदवावें, किस तालाब में ग़ोतेख़ोर उतारें, घर की कौन दीवार तुड़वावें।

श्यामा ने बहुत ही खीझकर स्वामी को जताया कि मर्दों के मस्तक में मस्तिष्क के बदले गोबर भरा रहता है, यह उसे पहले मालूम न था।

एक दिन श्यामा ने चुन्नू से कहा—ज़रा हाथ-पैर हिलाओ-डुलाओ। इस तरह बैठे-बैठे रुपये क्या आकाश से बरसेंगे?

बात तो ठीक है, और चुन्नू की इच्छा भी यही है; किन्तु किधर हिलें-डुलें, किसके यहाँ सेंध लगावें, यह कोई बतला नहीं देता! इसी से चुन्नू फिर चौपार में बैठकर छड़ी छीलने का काम करने लगे।

उधर फागुन का महीना आ गया। शुक्लपक्ष की सप्तमी-अष्टमी से परदेसी लोगों का आना शुरू हो गया। ट्रंकों में लड़कों के लिए नये कपड़े, जूते, खिलौने, पिचकारियाँ और

औरतों के लिए शीशा, कङ्घी, मिस्सी, इतर और ख़ुशबूदार तेल आदि उपहार लिये प्रसन्नमुख परदेसी अपने-अपने घर की ओर जा रहे थे।

निर्मल आकाश में सूर्य की किरणें उत्सव के आनन्द की तरह फैली हुई थीं। हरे-भरे गेहूँ जौ आदि के खेतों से पृथ्वी मानो सुवर्णमण्डित हो रही थी। गाँव के पास की सड़क से इक्कों पर बैठे परदेसी लोग बहुत दिनों के बाद देहात की शोभा निहारते जाते थे।

चुन्नू बैठे-बैठे उन्हीं को देखते थे। उन्हें देखकर उनका हृदय उच्छ्वसित हो उठता था। वे अपने घर के साथ देश के हज़ारों घरों के मिलन-उत्सव की तुलना करते थे और मन ही मन कहते थे कि विधाता ने इतना निकम्मा बनाकर मुझे क्यों उत्पन्न किया!

चुन्नू के लड़के होली के दो-एक दिन पहले सबेरे से ही मुन्नू के दरवाज़े पर और लड़कों के साथ रङ्ग खेल रहे थे। भोजन के समय दासी उन्हें वहाँ से पकड़ लाई। उस समय चुन्नू बैठे-बैठे इस विश्वव्यापी उत्सव में अपने जीवन की निष्फलता का स्मरण कर रहे थे। दरवाज़े पर चुन्नू ने दोनों लड़कों को दासी के नाग-पाश से छुड़ाकर अपने पास बिठा लिया और बड़े से पूछा—क्या लोगे?

बड़े लड़के रघुवर ने कहा—एक नाव लूँगा।

छोटे लड़के मोहन ने सोचा, बड़े भाई से किसी बात में कम होना ठीक नहीं। उसने भी कहा—मैं भी एक नाव लूँगा।

दोनों लड़के बाप के लायक़ बेटे थे। बाप को बेकार कारीगरी अच्छी लगती थी। बेटों ने भी उसी को पसन्द किया। बाप ने कहा—अच्छा।

इसी समय काशी से श्यामा के एक चाचा आये। वे काशी में वकालत करते थे। श्यामा उसी गाँव की लड़की थी। चाचा के आने पर वह कई बार जल्दी-जल्दी अपने बाप के घर गई-आई।

अन्त को एक दिन चुन्नू से आकर उसने कहा—अजी, तुमको काशी जाना पड़ेगा!

यह सुनकर एकाएक चुन्नू को जान पड़ा कि शायद उनकी मृत्यु का समय निकट आ गया है, किसी ज्योतिषी ने जन्मपत्री देखकर बतलाया है, और वही पता पाकर श्यामा उन्हें सद्गति का उपाय बता रही है। किन्तु पीछे उन्हें मालूम हुआ कि काशी में एक घर के बारे में सुना जाता है कि उसमें गुप्त धन है। वही घर ख़रीदकर उससे धन निकाल लाना होगा।

चुन्नू ने कहा—बाप रे बाप! मैं काशी न जा सकूँगा।

चुन्नू घर छोड़कर कभी कहीं बाहर नहीं गये। गृहस्थ को किस तरह घर से निकालते हैं, इस बारे में—शास्त्रकारगण लिखते हैं कि—स्त्रियाँ बिना सीखे ही चतुर होती हैं। श्यामा कटु वचन कहती थी, किन्तु उससे अभागे चुन्नू की आँखों में आँसू आ जाते थे। तो भी वे काशी जाने को राज़ी न थे।

दो-तीन दिन बीत गये। चुन्नू ने बैठे-बैठे कई लकड़ियाँ काटकर जोड़कर दो खेलने की नावें बनाईं। उनमें मस्तूल लगाये, कपड़े की 'पाल' भी तान दी, ताज़ शान्नू का झण्डा भी फहरा रहा था। 'पतवार' और 'डाँड़' भी रक्खे थे। एक सवार और एक मल्लाह भी हर एक नाव में बैठा हुआ था। चुन्नू ने उन नावों के बनाने में बड़ी कारीगरी दिखलाई। ऐसा कोई बालक न होगा जिसका मन उन नावों को देखकर लेने के लिए मचल न जाता। जिस दिन चुन्नू ने दोनों नावें बनाकर लड़कों के हाथ में दीं उस दिन वे आनन्द से नाच उठे। एक तो नाव ही यथेष्ट है, फिर उनमें पतवार है, डाँड़ हैं, मस्तूल है, पाल है; सबसे बढ़कर बात यह है कि सवार और मल्लाह भी हैं! लड़के बहुत विस्मित और प्रसन्न हुए।

लड़कों के आनन्द कोलाहल को सुनकर श्यामा भी वहाँ आ गई, और ग़रीब बाप के त्यौहार के उपहार को देखकर उसे बड़ा क्रोध चढ़ आया।

देखकर, ख़फ़ा होकर, रोकर, सिर धुनकर, दोनों नावें लड़कों के हाथों से छीनकर श्यामा ने दूर फेंक दीं। सोने का हार नहीं, रेशमी कुर्ता नहीं, कामदार टोपी नहीं, केवल एक खिलौना देकर लड़कों को बहलाया! और उसमें भी एक पैसा नहीं ख़र्च किया—अपने हाथ से ही बना दिया!

छोटा लड़का तो रोने लगा। "बेवकूफ़ लड़का" कहकर श्यामा ने उसके एक पोला सा हाथ जमा दिया।

बड़ा लड़का बाप के मुँह की ओर ताककर अपने दुःख को भूल गया। ऊपर से उल्लास का भाव दिखाकर उसने कहा—मैं कल सबेरे जाकर ढूँढ़ लाऊँगा।

चुन्नू उसके दूसरे ही दिन काशी जाने के लिए तैयार हो गये। किन्तु रुपये कहाँ हैं? श्यामा ने गहने बेचकर रुपयों का प्रबन्ध किया। चुन्नू की दादी के समय का गहना है, ऐसा खरा सोना और भारी चीज़ें हैं कि आजकल मिलना कठिन है।

चुन्नू को जान पड़ा, वे मरने के लिए जा रहे हैं। लड़कों को गोद में लेकर उनका मुँह चूमकर आँखों में आँसू भरे हुए चुन्नू घर से बिदा हुए। तब श्यामा भी रोने लगी।

काशी में जो घर ख़रीदने की बात थी उस घर का मालिक चुन्नू की स्त्री के चाचा का मोअक्किल था। शायद इसी कारण वह घर बड़े दामों का बिका। चुन्नू अकेले उस घर में रहने लगे। एकदम गङ्गा के किनारे पर ही घर था। दीवार के नीचे पानी भरा हुआ था।

रात को चुन्नू के रोएँ खड़े होने लगे। सूने घर में सिर-हाने लैंप जलाकर सिर से चादर ओढ़कर सो रहे।

किन्तु किसी तरह नींद न आई। रात बीतने पर सब कोलाहल मिट गया, तब कहीं से 'झनझन' शब्द सुनकर चुन्नू चौंक पड़े। शब्द धीमा, मगर साफ़ था। मानो पाताल में राजा बलि के ख़ज़ाने में ख़ज़ाञ्ची बैठा रुपये गिन रहा है। चुन्नू डरे, कौतूहल हुआ, और साथ ही दुर्जय आशा का भी

सञ्चार हुआ। काँपते हुए हाथ से दिया उठाकर वे इधर से उधर घूमने लगे। इधर जाने से जान पड़ता था कि शब्द उधर हो रहा है, और उधर जाने से जान पड़ता था कि इधर हो रहा है। चुन्नू कई घण्टे तक इधर से उधर घूमते और उस शब्द का पता लगाते रहे। दिन के समय वह पाताल-भेदी शब्द अन्यान्य शब्दों में छिप गया।

फिर रात को ग्यारह-बारह बजे सबके सो जाने पर वह शब्द सुन पड़ने लगा। चुन्नू का चित्त चञ्चल हो उठा। वे निश्चय न कर सके कि किधर से शब्द आ रहा है—कहाँ जाना चाहिए। मरुभूमि में जल की कल्लोल का शब्द सुन पड़ता है, किन्तु यह जान नहीं पड़ता कि किधर से वह शब्द आ रहा है। प्यासा पथिक कान खड़े किये निस्तब्ध भाव से खड़ा है और उधर प्यास का ज़ोर दम-दम पर बढ़ता ही जाता है। चुन्नू की यही दशा हुई।

कई दिन इसी तरह अनिश्चित अवस्था में बीत गये। केवल अनिद्रा और वृथा आश्वास से उनके सन्तोष-सरस मुख में व्यग्रता के तीव्र भाव की रेखा अङ्कित हो उठी। गढ़े में घुसी हुई चौकन्नी आँखों में दोपहर की तपी हुई मरुभूमि की बालू की ऐसी एक ज्वाला देख पड़ी।

अन्त को वे एक दिन आधी रात को सब द्वार बन्द करके घर भर में साबर से ठोंक-ठोंककर देखने लगे। पास की एक छोटी कोठरी के फ़र्श की ज़मीन पोली जान पड़ी।

और रात बीतने पर चुन्नू अकेले बैठकर उस ज़मीन को खोदने लगे। जब सबेरा होने में कुछ कसर रह गई तब खोदने का काम समाप्त हुआ।

चुन्नू ने देखा, नीचे एक कोठरी सी है। किन्तु उस रात के अँधेरे में बिना विचारे पैर नीचे उतारने का साहस नहीं हुआ। गढ़े पर पलँग डालकर वे सो रहे। किन्तु शब्द इतना स्पष्ट हो उठा कि डर के मारे वहाँ से उठ आये—मगर साथ ही उस स्थान को अरक्षित छोड़कर दूर जाने की प्रवृत्ति नहीं हुई। क्षोभ और डर, दोनों दोनों ओर से हाथ पकड़कर घसीटने लगे। रात बीत गई।

आज दिन को भी शब्द सुन पड़ता था। स्नान-भोजन आदि करने के उपरान्त किँवाड़े बन्द करके भगवान् का नाम लेकर चुन्नू ने वह बिछौना और पलँग गढ़े के ऊपर से हटाया। जल का छलछल शब्द और किसी धातु की ठनठनाहट बहुत स्पष्ट सुन पड़ रही थी।

डरते-डरते गढ़े के पास मुँह ले जाकर चुन्नू ने देखा, नीचे पानी भरा हुआ है। अँधेरे में इससे अधिक कुछ न देख पड़ा।

एक बड़ी लाठी डालकर देखा, पानी घुटने भर से अधिक न था। एक दियासलाई और मोमबत्ती लेकर वे उसी कोठरी के गढ़े में फाँद पड़े। कहीं दम भर में सब आशा मिट्टी में न मिल जाय, इस आशङ्का से बत्ती जलाने में उनका

हाथ काँपने लगा। बहुत सी दियासलाइयाँ नष्ट होने पर अन्त को बत्ती जली।

चुन्नू ने देखा, एक मोटी सी लोहे की ज़ञ्जीर में एक ताँबे का बड़ा कलसा बँधा हुआ लटक रहा है। पानी का वेग प्रबल होता है और ज़ञ्जीर लगने से कलसे में ठनठनाहट पैदा होती है।

चुन्नू जल्दी से पानी सँभालते उसी कलसे के पास पहुँचे। जाकर देखा, कलसा ख़ाली था।

तब भी वे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं कर सके। दोनों हाथ से कलसा उठाकर ख़ूब झाँक-झाककर उसके भीतर देखा। भीतर कुछ न था। उसको उलटकर देखा। कुछ भी नहीं गिरा। चुन्नू ने देखा, कलसे का गला टूटा हुआ था। जान पड़ा, किसी समय उस कलसे का अङ्ग-भङ्ग नहीं हुआ था—बीच में किसी ने आकर उसको तोड़ डाला है।

तब चुन्नू उसी पानी के भीतर दोनों हाथ डालकर टटोलने लगे। कीचड़ के भीतर हाथ में न-जाने क्या लगा। उठाकर देखा, मुर्दे की खोपड़ी थी। उसे भी कान के पास ले जाकर एक बार हिलाया—भीतर कुछ न था। उसे भी फेंक दिया। बहुत खोजने पर भी किसी नर-कङ्काल की हड्डियों के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगा।

चुन्नू ने देखा, गङ्गा की ओर दीवार एक जगह पर टूटी हुई है। वहीं से पानी भीतर आ रहा है, और उनके पहले

जिसे दैव-दत्त धन मिलना बदा था वह शायद उसी राह से भीतर आया होगा।

अन्त को बिल्कुल हताश होकर चुन्नू ने 'आह' करके एक लम्बी साँस ली। उसकी प्रतिध्वनि अतीतकाल के और भी बहुत से हताश व्यक्तियों की 'आह' को लेकर भयानक गम्भीरता के साथ उस पाताल से ऊपर की ओर गूँज गई।

देह भर में कीचड़ लगाये चुन्नू गढ़े से बाहर निकले।

जन-कोलाहल-पूर्ण पृथ्वी उनको आदि से अन्त तक मिथ्या और उसी ज़ञ्जीर में बँधे हुए कलसे की तरह शून्य जान पड़ने लगी।

फिर असबाब बाँधना होगा, टिकट ख़रीदना होगा, गाड़ी पर चढ़ना होगा, घर लौटकर जाना होगा. स्त्री से बकवाद करनी होगी और बाक़ी ज़िन्दगी बितानी होगी। यह सब चुन्नू को असह्य जान पड़ने लगा। जी चाहा कि गङ्गा के जीर्ण कगारे की तरह पानी में फाँद पड़ें।

किन्तु तब भी असबाब बाँधा, टिकट ख़रीदा और रेल-गाड़ी पर भी सवार हुए। और, एक दिन गर्मियों की शाम को चुन्नू अपने घर के द्वार पर जा पहुँचे। फागुन में, वसन्त के प्रातःकाल में चुन्नू ने चौपार में बैठे-बैठे अनेक परदेसियों को घर जाते देखा था और लम्बी साँस लेकर वे मन ही मन उस परदेस से घर को लौटने के सुख के लिए लालायित हो

उठे थे। किन्तु उस समय आज की सन्ध्या का स्वप्न में भी ख़याल न था।

घर की हद में घुसकर चुन्नू चौपार में ही एक लकड़ी के ऊपर बेवकूफ़ की तरह जाकर बैठ रहे, भीतर नहीं गये। सबसे पहले दासी ने उन्हें देखा और आनन्द-कोलाहल मचा दिया। उसके बाद लड़के दौड़े आये। फिर भीतर बुलौआ हुआ।

चुन्नू मानो सोते से चौंक पड़े। फिर उनको अपनी पहले की गिरिस्ती में रहना पड़ेगा—स्त्री से बकबक होगी।

सूखा मुँह और मिटी हुई हँसी लिये हुए चुन्नू भीतर गये। एक लड़का गोद में था और दूसरे की उँगली पकड़े हुए थे।

उस समय घर में चिराग़ जल चुका था। मगर यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि चूल्हा जला था या नहीं।

चुन्नू थोड़ी देर चुप रहे। उसके बाद धीरे से स्त्री से पूछा—कैसी हो?

स्त्री ने उसका कुछ उत्तर न देकर पूछा—क्या हुआ?

चुन्नू ने मुँह से कुछ न कहकर सिर पर हाथ दे मारा। श्यामा के मुख पर बहुत ही कठिन भाव झलकने लगा।

लड़के भारी अकल्याण की छाया देखकर धीरे-धीरे वहाँ से खिसक गये। दासी से "वही नाई की कहानी कहो" कहकर दोनों बिछौने पर लेट रहे।

रात बीतने लगी, किन्तु दोनों चुप बैठे थे। घर में सन्नाटा सा छा गया। श्यामा के ओंठ मानो किसी ने सी दिये।

बहुत देर के बाद कुछ न कहकर श्यामा धीरे-धीरे अपने सोने के कमरे में चली गई। भीतर से उसने द्वार बन्द कर लिया।

चुन्नू चुपचाप बाहर बैठे रहे। चौकीदार पहरा दे गया। थके हुए लोग बेखटके ख़र्राटे ले रहे थे। अपने आत्मीय से लेकर अनन्त आकाश के नक्षत्रों तक किसी ने लाञ्छित, हताश, भूखे-प्यासे चुन्नू से एक बात भी नहीं की।

दो बजे के लगभग मानो कोई स्वप्न देखते-देखते चुन्नू का बड़ा लड़का चौंक उठा। वह उठकर बाहर दालान में आया। वहाँ आकर उसने पुकारा—दादा!

उस समय चुन्नू वहाँ पर न थे। लड़के ने पहले की अपेक्षा कुछ और ज़ोर से पुकारा—दादा! किन्तु उसे फिर भी कुछ उत्तर न मिला।

वह डर के मारे फिर बिछौने पर जाकर लेट रहा।

पहले की प्रथा के अनुसार सबेरे चौपार बहारने के लिए दासी गई। पर वहाँ उसे चुन्नू नहीं देख पड़े। दिन चढ़ने पर गाँव के लोग चुन्नू से मिलने और कुशल-समाचार पूछने आये। किन्तु चुन्नू से मुलाक़ात नहीं हुई।

परोसिन

मेरी परोसिन बाल-विधवा है। वह मानो ओस के आँसुओं से भीगे हुए हरसिंगार के फूल की तरह झड़ पड़ी है। अब कोई रसिक पुरुष उसे गले का हार नहीं बना सकता। अब वह केवल देव-पूजा के ही काम की है।

मैं मन ही मन उस पर श्रद्धा रखकर उसकी पूजा करता था। उसके प्रति मेरे मन का जो भाव था उसे 'पूजा' के सिवा किसी सहज भाषा में प्रकट करने को जी नहीं चाहता; केवल औरों के आगे ही नहीं, अपने आगे भी।

मेरे दिली दोस्त नन्हे को भी कुछ मालूम न था। इस तरह अपने अत्यन्त गहरे आवेग को छिपाकर निर्मल बनाये रखने का मुझे कुछ गर्व भी था।

किन्तु मन का वेग तो पहाड़ी नदी की तरह है। वह अपने ही जन्म-शिखर पर बँधकर रहना नहीं चाहता; किसी उपाय से बाहर निकलने की चेष्टा करता है; अकृतकार्य होने से हृदय में वेदना उत्पन्न कर देता है। इसी से सोचता था कि कविता लिखकर अपने हृदय का भाव प्रकट करूँगा. किन्तु कुण्ठित क़लम किसी तरह आगे नहीं बढ़ी।

बड़े अचरज की बात तो यह है कि ठीक इसी समय मेरे मित्र नन्हे को अकस्मात् भूकम्प की तरह कविता लिखने का दौरा सा हो आया।

उस बेचारे को पहले कभी ऐसी दैवी विपत्ति का सामना नहीं करना पड़ा, और सच तो यह है कि वह इस अभिनव आन्दोलन के लिए रत्ती भर भी प्रस्तुत नहीं था। किन्तु मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि छन्द, अनुप्रास आदि कुछ सुलभ न होने पर भी उसने जी नहीं छोड़ा। कविता बुड्ढे के दूसरे ब्याह की स्त्री की तरह उसके सिर पर चढ़ बैठी। नन्हे बेचारा छन्द, अनुप्रास आदि के सम्बन्ध में संशोधन की सहायता माँगने मेरी शरण में आया।

कविता के विषय नवीन नहीं थे; किन्तु पुराने भी नहीं थे। अर्थात् उन्हें चिरनूतन कह सकते हैं, और चिरपुरातन कहने में भी कोई हानि नहीं। प्रेम की कविताएँ प्रियतमा के प्रति थीं। मैंने धीरे से अपने मित्र को हाथ से ठेलकर हँसते हुए पूछा—क्योंजी ये कौन हैं?

नन्हे ने हँसकर कहा—इसका पता तो अभी तक नहीं चला!

नवीन कवि की सहायता करने में मुझे बड़ा आराम मिला। नन्हे की काल्पनिक प्रियतमा के प्रति मैंने अपने हृदय के सारे उद्गारों और भावों का प्रयोग कर दिया। जिस तरह बे-बच्चे की मुर्ग़ी बत्तक़ के भी अण्डों को पाकर उनको सेने लगती है, उसी तरह मैं अभागा भी नन्हे के भाव के ऊपर

अपने हृदय की सारी गर्मी रखकर उसे मानो दबा बैठा। ऐसे प्रबल वेग से अनाड़ी की कविता का संशोधन करने लगा कि उसमें पन्द्रह आने के लगभग मेरे भाव भर गये।

नन्हे ने विस्मित होकर कहा—ठीक यही बातें मैं कहना चाहता था, किन्तु कह नहीं सका। फिर तुम्हें ये भाव कहाँ से सूझ गये?

मैंने कवि की तरह उत्तर दिया—कल्पना से। क्योंकि सत्य चुप रहता है, कल्पना में ही बातें बनाने की शक्ति होती है। सत्य घटना भाव के प्रवाह को पत्थर की तरह रोक देती है, उसके मार्ग को कल्पना ही खोजती है।

नन्हे ने गम्भीर भाव से ज़रा सोचकर कहा—"यही तो जान पड़ता है! ठीक है।—" फिर थोड़ी देर सोचकर कहा—ठीक ठीक!

पहले ही कह चुका हूँ कि मेरी चाह या प्रेम में एक प्रकार का संकोच था; इसी से मैं अपनी भाषा में कुछ लिख नहीं सकता था। नन्हे की आड़ में मेरी लजीली लेखनी चलने लगी। कविताएँ मानो रस से परिपूर्ण होकर हृदय के उत्ताप से खिली उठती थीं।

नन्हे ने कहा—यह तो सब तुम्हारा लिखा है! तुम्हारे ही नाम से इसे प्रकाशित करूँगा।

मैंने कहा—वाह! यह तुम्हारा लेख है—मैंने तो केवल कहीं-कहीं साधारण संशोधन कर दिया है।

धीरे-धीरे नन्हे की भी यही धारणा हो गई।

मैं इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि ज्योतिषी जैसे नक्षत्रों के उदय की अपेक्षा में आकाश की ओर ताका करता है वैसे ही मैं भी कभी-कभी अपनी परोसिन के घर की खिड़की की ओर ताका करता था। बीच-बीच में भक्त का व्याकुल दृष्टि से देखना सफल भी होता रहता था। उस कर्मयोगनिरत ब्रह्मचारिणी की सौम्य मुख-कान्ति से शान्त स्निग्धज्योति प्रतिबिम्बित होकर मेरे चित्त की सारी व्याकुलता को मिटा देती थी।

किन्तु उस दिन एकाएक यह क्या देखा! मेरे चन्द्रलोक में भी क्या अभी तक ज्वालामुखी का उत्पात बना हुआ है? वहाँ की जनशून्य समाधि-मग्न गिरिगुहा का अग्निदाह क्या अभी तक पूर्ण रूप से बुझा नहीं?

उस दिन वैशाख के महीने में, तीसरे पहर, ईशान कोण में बदली हो आई थी। निकटवर्त्ती बादल में बिखरी हुई धूप को देखती हुई मेरी परोसिन अपने घर की खिड़की में अकेली खड़ी थी। उस दिन उसकी शून्य और एकाग्र दृष्टि में मुझको दूर तक फैली हुई किसी गहरी वेदना का आभास देख पड़ा।

है, मेरे इस चन्द्रलोक में अभी तक आग की गर्मी है! इस समय भी वहाँ से गर्म साँस निकलती है। देवता के काम के लिए ही मनुष्य नहीं है, वह मनुष्य के लिए ही है!

उसके नेत्रों की विशाल व्याकुलता उस दिन की उस बदली के प्रकाश में व्यग्र पक्षी की तरह उड़ी चली जा रही थी—स्वर्ग की ओर नहीं, मनुष्य के मन-मन्दिर की ओर।

उस उत्सुक आकांक्षा से उद्दीप्त दृष्टि को देखने के उपरान्त से अशान्त चित्त को सँभालना मेरे लिए कठिन हो गया। तब ऐसा हो गया कि पराई कच्ची कविता का संशोधन करने से ही जो नहीं भरता था। एक न-जाने कौन सा काम ख़ुद करने के लिए चित्त व्यग्र हो उठा।

तब मैंने संकल्प किया कि मैं देश में विधवाविवाह प्रचलित करने में ही अपनी चेष्टा लगा दूँगा। केवल व्याख्यान देकर और लेख लिखकर ही नहीं, आर्थिक सहायता करके भी मैं विधवा-विवाह प्रचलित करने का उद्योग करने लगा।

नन्हे मुझसे इस बारे में तर्क करने लगा। उसने कहा—चिर-वैधव्य में एक पवित्र शान्ति है—एकादशी की क्षीण चाँदनी से प्रकाशित समाधि-भूमि की तरह एक विराट् रमणीयता है। विवाह की सम्भावना से ही क्या वह नष्ट नहीं हो जाती?

इस प्रकार की कवित्व की बातें सुनते ही मेरे आग लग जाती थी। दुर्भिक्ष में जो आदमी भूखों मर रहा है उसके आगे, पेट भर भोजन करके पुष्ट हो रहा आदमी अगर अन्न आदि की स्थूलता पर घृणा प्रकट करके फूलों की महक और पक्षियों के कलगान से उसका पेट भराना चाहे तो उसे सब लोग क्या कहेंगे?

मैंने असन्तुष्ट होकर कहा—देखो नन्हे, आर्टिस्ट लोग कहते हैं कि दृश्य की दृष्टि से जले हुए घर में बड़ा भारी सौन्दर्य होता है। किन्तु घर को केवल दृश्य की दृष्टि से देखने से काम नहीं चलता, उसमें रहना होता है। अतएव आर्टिस्ट चाहे जो कहे, उसकी मरम्मत होना आवश्यक है। वैधव्य-विषय को लेकर तुम दूर से दिव्य कविता करना चाहते हो—किन्तु तुमको यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उस वैधव्य के भीतर एक आकांक्षा-पूर्ण मनुष्य-हृदय विचित्र वेदना को लिये निवास कर रहा है।

मैंने समझा था कि नन्हे को किसी तरह अपने दल में मिला न सकूँगा—इसी से उस दिन कुछ अधिक जोश के साथ तर्क-वितर्क किया था। किन्तु एकाएक देख पड़ा कि मेरी लम्बी-चौड़ी वक्तृता के उपरान्त नन्हे ने केवल ठण्डी साँस लेकर मेरी सब बातों को मान लिया। बाक़ी और-और अच्छी बातें कहने का मुझे अवकाश ही न दिया।

छः-सात दिन के बाद नन्हे ने आकर कहा—तुम सहायता करो तो मैं एक विधवा से ब्याह करने के लिए राज़ी हूँ।

मैं ऐसा ख़ुश हुआ कि नन्हे को गले से लगा लिया और कहा कि मैं सब ख़र्च दूँगा। तब नन्हे ने अपना सब हाल कहा।

मुझे मालूम हुआ कि उसकी प्रियतमा कल्पना की वस्तु नहीं है। कुछ दिनों से वह एक विधवा बालिका को दूर

से चाहता था—किसी से उसने यह बात नहीं कही। जिस मासिक पत्र में नन्हे की (अर्थात् मेरी) कविता प्रकाशित होती थी वह पत्र भी उस विधवा के पास पहुँच जाता था। कवि-ताएँ निष्फल नहीं हुईं। बिना मुलाक़ात किये ही असर डालने का यह उपाय मेरे मित्र का ही आविष्कार था।

नन्हे ने कहा कि मैंने किसी बुरी नियत से यह कुचक्र नहीं रचा था। यहाँ तक कि उसे विश्वास था कि विधवा पढ़ना नहीं जानती। उसके भाई के नाम नन्हे हर महीने मुफ़्त पत्र भेज दिया करता था। किन्तु अपने मन को समझाने के लिए यह उसका पागलपन ही था। वह समझता था कि उसने देवता को पुष्पाञ्जलि अर्पण कर दी—वह देवता उसे जाने या न जाने, ग्रहण करे या न करे।

अनेक बहानों से नन्हे ने उस विधवा के भाई से जो मित्रता कर ली थी, उसमें भी उसका कोई गूढ़ उद्देश्य नहीं था। जिसको चाहो उसके आत्मीय से मित्रता करना स्वाभाविक ही है।

अन्त को भाई के बीमार होने पर उसकी विधवा बहन से किस तरह मुलाक़ात हुई, यह भी मालूम हुआ। कवि से कविता के विषय का प्रत्यक्ष परिचय पाकर कविता के सम्बन्ध में बहुत सी बातचीत भी हो गई है। वह काव्य-चर्चा केवल छपी हुई कविताओं के ही सम्बन्ध में नहीं हुई थी।

इस समय मुझसे तर्क में परास्त होकर, उस विधवा से मिलकर, नन्हे विधवा-विवाह करने का प्रस्ताव कर चुका है। पहले किसी तरह वह राज़ी नहीं हुई। तब नन्हे ने मेरी युक्तियाँ सुनाईं और साथ ही दो-चार आँसू भी गिराये। अन्त को वह विधवा ब्याह करने के लिए राज़ी हो गई। इस समय विधवा का चाचा कुछ रुपये चाहता है।

मैंने कहा—अभी लो।

नन्हे ने कहा—ब्याह के बाद नाराज़ होकर मेरे पिता अवश्य ही कुछ दिनों के लिए मुझे घर से निकाल देंगे। उस समय ख़र्च चलने का भी प्रबन्ध होना चाहिए।

मैंने कुछ उत्तर न देकर एक चेक लिखकर दे दिया। उसके बाद कहा—अच्छा, अब यह बताओ कि वह विधवा कौन है और कहाँ रहती है। मुझसे तुम्हारी कोई लाग-डाँट तो है ही नहीं। तुम बेखटके उसका पता बता दो। मैं उसके लिए कविता नहीं लिखूँगा, और अगर लिखूँगा तो उसके भाई को न भेजकर तुम्हीं को दे दूँगा।

नन्हे ने कहा—अरे उसके लिए मैं नहीं डरता। विधवा चाहती है कि इस ब्याह की बात प्रकट न हो, इसी से उसने किसी से कहने के लिए मुझे मना कर दिया है। लेकिन तुमसे छिपाने की कोई ज़रूरत नहीं। वह तुम्हारे ही परोस में, १९ नम्बर के मकान में, रहती है।

मेरा हृत्पिण्ड अगर लोहे का बायलर होता तो यह सुन-कर अवश्य एकदम फट जाता। मैंने पूछा—विधवा-विवाह के लिए वह राज़ी है?

नन्हे ने हँसकर कहा—हाँ, इस समय तो राज़ी है।

मैंने कहा—केवल कविता पढ़कर ही वह इतना रीझ गई?

नन्हे ने कहा—क्यों, मेरी कविताएँ क्या बुरी होती हैं?

मैंने मन में धिक् कहा!

धिक् किसे? उसे, मुझे या विधाता को? किन्तु धिक्!

———

✓ अनधिकार-प्रवेश

एक दिन सबेरे राह के किनारे खड़े होकर एक बालक दूसरे बालक से एक बड़े साहस के काम के लिए बाज़ी लगा रहा था। ठाकुरद्वारे के चमन से देखें कौन फूल तोड़ लाता है, इसी बात पर बाज़ी थी। एक बालक ने कहा—मैं ले आ सकता हूँ। दूसरे ने कहा—तुम कभी नहीं ला सकते!

सुनने में बहुत सहज जान पड़ने पर भी काम इतना कठिन क्यों है, यह पाठकों को समझाने के लिए उसका वृत्तान्त कुछ विस्तार से कहने की आवश्यकता है।

परलोकगत गोपाललाल मिश्र तर्कवाचस्पति की विधवा स्त्री जानकी उस ठाकुरद्वारे की अधिकारिणी है। मिश्रजी ज़िन्दगी भर में स्त्री के आगे अपनी उपाधि को कभी प्रमाणित नहीं कर सके। किसी-किसी पण्डित का मत यह है कि उनकी उक्त उपाधि सार्थक थी; क्योंकि तर्क और वाक्य में जानकी की योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और वे उसके पति भी थे।

सत्य के अनुरोध से कहना पड़ेगा कि जानकी बहुत बातें न करती थी। किन्तु दो-एक बातें कहकर, यहाँ तक कि चुपके रहकर भी, बड़े बड़ों का मुँह बन्द कर देने की शक्ति उसमें थी।

जानकी का डीलडौल लम्बा, शरीर दृढ़, नाक पैनी और बुद्धि तेज़ थी। उसके स्वामी की ज़िन्दगी में उनकी देवोत्तर सम्पत्ति नष्ट होने का ढङ्ग लग गया था। विधवा जानकी ने सब बाक़ी-बक़ाया वसूल करके चौहद्दी ठीक की और बहुत दिनों की छूटी ज़मीन को अपने अधिकार में करके सब झञ्झट मिटा दिया। जानकी की एक कौड़ी भी कोई हज़म नहीं कर सकता था।

जानकी की प्रकृति बहुत कुछ मर्दानी होने के कारण यथार्थ में कोई उसका साथी न था। स्त्रियाँ उसे डरती थीं। पराई निन्दा, छोटी बात या मिनमिनाकर रोना उसके लिए असह्य था। मर्द भी उसको डरते थे; क्योंकि गाँव के भलेमानसों के इधर-उधर बैठकर गप-शप लड़ाने के अगाध आलस्य को वह एक प्रकार के नीरव घृणापूर्ण कटाक्ष के द्वारा धिक्कार देकर चली जा सकती थी, जो उन लोगों की स्थूल जड़ता को छेदकर बर्छी की तरह हृदय में चोट पहुँचाता था।

इस प्रौढ़ा विधवा में प्रबल रूप से घृणा करने की, और उस घृणा को प्रबल रूप से प्रकाशित करने की असाधारण शक्ति थी। विचार में जो उसके निकट अपराधी होता था उसे कुछ कहकर, और बिना कुछ कहे भी आकार-प्रकार से जलाने की शक्ति उसमें थी।

गाँव के हर एक आदमी के काम-काज में और सुख-दुःख में वह शामिल होती और सहायता करती थी। वह सब

जगह सब कामों में एक गौरव के स्थान पर बिना किसी चेष्टा के बहुत ही सहज में अपना अधिकार जमा ले सकती थी। जहाँ वह उपस्थित होती थी वहाँ उसके या अन्य उपस्थित व्यक्तियों के मन में इस सम्बन्ध में कुछ भी सन्देह न रहता था कि वही सब में प्रधान है।

रोगी की सेवा करने में वह सिद्धहस्त थी। किन्तु रोगी उसे यमराज की तरह डरते थे। पथ्य या औषधसेवन के नियम में कुछ भी व्यतिक्रम होने पर उसका क्रोधाग्नि रोगी को रोग के ताप की अपेक्षा अधिक भयानक जान पड़ता था।

यह लम्बी चौड़ी कठोर प्रकृति की विधवा विधाता के कड़े नियम-दण्ड की तरह गाँव में विराजमान थी। कोई उससे स्नेह या अवहेला का व्यवहार करने का साहस न करता था। गाँव के सभी लोगों से उसका सम्बन्ध था, किन्तु फिर भी वह बिल्कुल अकेली थी।

विधवा के कोई बाल-बच्चा न था। बे-मा-बाप के दो भतीजे उसके पास थे। जानकी ही उनका लालन-पालन और देख-रेख करती थी। कोई यह नहीं कह सकता था कि मर्द का दबाव न होने के कारण उन बालकों पर किसी प्रकार का शासन नहीं है, या वे बुआ के बेजा दुलार से बरबाद होते जा रहे हैं। उनमें से बड़े की अवस्था सत्रह-अठारह वर्ष की थी।, बीच-बीच में उसके ब्याह की बात-चीत भी आती थी और विवाह के सम्बन्ध में उस लड़के को

कम उत्साह भी न था। किन्तु बुआ ने भतीजे की इस इच्छा को पूर्ण करने की ओर ध्यान ही नहीं दिया। अन्य स्त्रियों की तरह किशोर-किशोरी के नवीन प्रेम का दृश्य देखना उसे पसन्द न था। बल्कि यह सम्भावना उसे बहुत ही हेय जान पड़ती थी कि उसका भतीजा ब्याह करके अन्य भले मानसों की तरह बैठे-बैठे नित्य स्त्री के आदर में ही डूबा रहेगा। वह कठिन दृढ़ता के साथ कहती थी कि रघुनाथ पहले पैसा पैदा करने का कोई ढंग सीख ले, तब उसका ब्याह करूँगी। बुआ की इस कठोर उक्ति को सुनकर परोस की औरतों का हृदय मानो विदीर्ण हो जाता था।

ठाकुरद्वारा जानकी को बहुत प्यारा था। ठाकुरजी के नहलाने, पूजा करने, वस्त्राभूषण पहनाने, नैवेद्य लगाने आदि में तिलभर भी त्रुटि नहीं हो सकती थी। पुजारी महराज दो देवताओं (सीता-राम) की अपेक्षा एक ब्राह्मणी को अधिक डरते थे। पहले एक समय था जब पुजारीजी आधा-पर्धा सामान देवता को अर्पण करके बची हुई सामग्री अपने काम में लाते थे। पर अब जानकी के शासन से पुजारीजी वैसा नहीं करने पाते।

विधवा के यत्न से ठाकुरद्वारे का आँगन धोया-बुहारा चमचमाया करता है। कहा एक तिनका भी नहीं देख पड़ता। एक ओर मचान पर वासन्ती लता फैली हुई है। उसका सूखा पत्ता गिरते ही जानकी उसे उठाकर कूड़े को

डलिया में डाल देती है। ठाकुरद्वारे में ज़रा भी गन्दगी और अपवित्रता जानकी से नहीं देखी जाती थी। पहले गाँव के लड़के लुकी-लुकैया खेलते समय ठाकुरद्वारे के आँगन में ही आकर लुकते थे, और बीच-बीच में बकरियाँ आकर लता के कुछ पत्ते चर जाती थीं। किन्तु अब न लड़के ही वहाँ आ सकते थे और न बकरियाँ ही। किसी उत्सव के बिना लड़के उस आँगन में पैर न रख सकते थे और भूखे बकरी के बच्चों को लकड़ी खाकर दरवाज़े से ही चिल्लाकर अपनी माँ को पुकारते-पुकारते भागना पड़ता था।

दुराचारी आदमी सगा होने पर भी ठाकुरद्वारे के आँगन में पैर नहीं रखने पाता था। जानकी के एक बहनोई थे। वे होटल में खाते थे। एक बार वे जानकी को देखने ठाकुर-द्वारे में आये। जैसे उन्होंने मन्दिर के आँगन में पैर रखना चाहा वैसे ही जानकी ने उनको ऐसा आड़े हाथों लिया कि उनसे पीछे पैर रखते ही बन पड़ा। इसी बात पर जानकी की बहन उससे रूठ गई थी। उक्त ठाकुरद्वारे के सम्बन्ध में विधवा की इतनी अधिक अनावश्यक सावधानी देख पड़ती थी कि सर्व-साधारण उसे उसका पागलपन समझते थे।

जानकी का और सब जगह कठिन, उन्नत, स्वतन्त्र-भाव देख पड़ता था, केवल उस ठाकुरद्वारे की देवमूर्त्ति को उसने पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण कर दिया था। वह जननी, पत्नी, दासी के भाव से देव-प्रतिमा की सेवा करती थी। देवमूर्त्ति

के आगे वह सावधान, सुकोमल, सुन्दर और सम्पूर्ण रूप से नम्र बनी रहती थी। केवल पत्थर के ठाकुरद्वारे और देव-मूर्त्ति से सम्बन्ध जोड़कर ही वह अपने निगूढ़ नारी-स्वभाव को चरितार्थ करती थी। मन्दिर और मूर्त्ति को ही वह स्वामी, पुत्र और अपना परिवार समझती थी।

इसी से पाठक समझ सकते हैं कि जिस बालक ने ठाकुर-द्वारे के आँगन से फूल तोड़ लाने की प्रतिज्ञा की थी वह कैसा साहसी था। वह बालक और कोई नहीं, जानकी का छोटा भतीजा सुन्दर था। सुन्दर अपनी बुआ को अच्छी तरह जानता था, तथापि ढीठ बालक ने बुआ के बकने-झकने और मारने-पीटने की कुछ परवा नहीं की। जिधर किसी तरह की विपत्ति होती थी उधर ही जाने के लिए उसका मन मचल जाता था। जहाँ जिस बात का निषेध होता था वहाँ वही काम करने के लिए उसका चित्त चञ्चल हो उठता था। सुना जाता है, लड़कपन में उसकी बुआ का भी स्वभाव ऐसा ही था।

उस समय जानकी मातृस्नेह-मिश्रित भक्ति के साथ देव-मूर्त्ति की ओर देखती हुई दालान में बैठी माला जप रही थी।

सुन्दर चुपके-चुपके पीछे से उसी चमन के पास आकर खड़ा हो गया। देखा, सुगम स्थान के सब फूल पूजा के लिए चुन लिये गये हैं। तब वह बड़ी सावधानी से मचान के ऊपर चढ़कर बेल से फूल तोड़ने गया। ऊँची डाली में

फूले हुए दो फूलों की ओर जैसे सुन्दर ने हाथ बढ़ाया वैसे ही उसकी प्रबल चेष्टा के बोझ से मचान टूटकर बड़े शब्द से गिर पड़ा। वह बेल और बालक, दोनों नीचे आ गये।

जानकी जल्दी से वहाँ दौड़ी आई। उसने अपने भतीजे की करतूत देखी। ज़ोर से हाथ पकड़कर बालक को उठाया। चोट तो उसके करारी लगी थी, किन्तु उसे उस काम की सज़ा नहीं कह सकते; क्योंकि वह अज्ञान जड़ का आघात था। इसी से गिर पड़े बालक की चुटहिल देह में जानकी का सज्ञान दण्ड बार-बार बरसने लगा। बालक ने एक भी आँसू न गिराकर चुपचाप सब सह लिया। तब जानकी ने उसको घसीट ले जाकर कोठरी में बन्द कर दिया। हुक्म हो गया, उसको शाम को भोजन न मिले।

विधवा जानकी फिर माला हाथ में लेकर जप करने लगी। कोठरी के भीतर से सुन्दर का करुण-क्रन्दन क्रमशः क्रोध के गर्जन का रूप धारण करके सुन पड़ने लगा। अन्त को बहुत देर के बाद बालक की कातरता का शान्त उच्छ्वास रह-रहकर उसकी बुआ के कानों में ध्वनित होने लगा।

सुन्दर का सिसकना शिथिल हो आया था, इसी समय और एक जीव की भीत कातर ध्वनि पास ही ध्वनित होने लगी। उसी के साथ दौड़ रहे मनुष्यों का कोलाहल भी दूर पर सुन पड़ा।

अकस्मात् आँगन में पैरों की आहट सुन पड़ी। जानकी ने घूमकर देखा, ज़मीन तक वह लताकुञ्ज हिल रहा है।

क्रोध के स्वर में जानकी ने पुकारा—सुन्दर!

कुछ उत्तर नहीं मिला। जानकी ने समझा कि उपद्रवी सुन्दर क़ैद से किसी तरह भागकर फिर उन्हें खिझाने आया है। तब बहुत ही क्रोध से उठकर जानकी आँगन में आई। लता-कुञ्ज के पास आकर उसने फिर पुकारा—सुन्दर!

फिर भी उत्तर न मिला। लता को हटाकर देखा, एक अत्यन्त मलिन सुअर जी चुराये लताकुञ्ज के भीतर घुसा हुआ बैठा है।

जो लताकुञ्ज इस हाते के भीतर वृन्दावन की संक्षिप्त प्रतिमूर्त्ति है, जिसके खिले हुए फूलों की महक गोपियों के मुख-सुवास का स्मरण कराती है, और जो यमुनातीर-वर्त्ती सुख-विहार के सौन्दर्य-स्वप्न का अनुभव कराता है, विधवा की उसी प्यारी पवित्र स्वर्गपुरी में अकस्मात् यह वीभत्स घटना हो गई।

पुजारी ब्राह्मण लाठी लेकर उस सुअर को मारने चला।

जानकी ने उसी दम उसे रोका और जल्दी से लपककर मन्दिर के द्वार को बन्द कर दिया।

शराब पीकर उन्मत्त हो रहे पासी लोग थोड़ी ही देर में ठाकुरद्वारे के द्वार पर आकर अपने बलि-पशु के लिए हल्ला मचाने लगे।

जानकी ने भीतर से कहा—जाओ, लौट जाओ; मेरे मन्दिर को अपवित्र न करना।

पासी लोग लौट गये। जानकी उस अपवित्र जीव को अपने ठाकुरद्वारे में आश्रय देगी इस बात पर, प्रत्यक्ष देखकर भी, वे विश्वास न कर सके।

इस साधारण घटना से सम्पूर्ण जगत् के सब जीवों के महादेवता परम प्रसन्न हुए, किन्तु छोटे से गाँव के समाज-नामधारी क्षुद्र देवता को बहुत बुरा मालूम हुआ।

गुप्तधन

१

अमावस का अँधेरी रात है। चन्द्रशेखर तान्त्रिक रीति से अपनी बहुत दिनों की गृह-देवी भद्रकाली की पूजा कर रहे हैं। पूजा समाप्त करके जब वे उठे तब पास ही के आम के बाग़ से सबेरे का कौओं का शब्द सुन पड़ा।

चन्द्रशेखर ने पीछे फिरकर देखा, पीछे का द्वार बन्द था। तब उन्होंने एक बार मूर्त्ति के चरणों में प्रणाम करके आसन को हटा दिया। उस आसन के नीचे से एक लकड़ी का सन्दूक़ निकला। जनेऊ में चाभी बँधी हुई थी। उसी से चन्द्रशेखर ने उस सन्दूक़ को खोला। खोलते ही चौंककर उन्होंने माथा पीट लिया।

चन्द्रशेखर के घर से मिला हुआ एक हाता है। हाता पक्की दीवार से घिरा हुआ है। उसके भीतर बगिया है। बगिया के एक छोर पर बड़े-बड़े पेड़ों की छाया के अन्धकार में यह छोटा सा मन्दिर है। मन्दिर में भद्रकाली की मूर्त्ति के सिवा और कुछ नहीं है। मन्दिर के भीतर जाने के लिए एक ही द्वार है। चन्द्रशेखर ने उस सन्दूक़ को बहुत देर तक

उलट-पुलटकर देखा। खुलने के पहले वह बन्द ही था—किसी ने उसे तोड़ा-फोड़ा नहीं। चन्द्रशेखर ने कई बार प्रतिमा के चारों ओर हाथ से टटोल-टटोल कर देखा, पर कुछ मिला नहीं। उन्होंने पागल की तरह होकर मन्दिर का द्वार खोल दिया। उस समय प्रातःकाल का प्रकाश अच्छी तरह फैल चुका था। चन्द्रशेखर मन्दिर के आसपास घूम-फिर-कर वृथा आश्वास से न-जाने क्या चीज़ खोजते फिरने लगे।

जब अच्छी तरह दिन चढ़ आया तब वे बाहर चबूतरे पर बैठकर, सिर पर हाथ रखकर, सोचने लगे। रातभर जागने के कारण चन्द्रशेखर का शरीर शिथिल हो रहा था, और नींद आने लगी थी। इसी समय एकाएक चौंककर उन्होंने सुना—जय हो बाबा!

सामने ही एक जटाजूटधारी संन्यासी खड़े थे। चन्द्र-शेखर ने भक्ति के साथ उनको प्रणाम किया। संन्यासी ने उनके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देकर कहा—बाबा, तुम मन में वृथा शोक कर रहे हो।

सुनकर चन्द्रशेखर को बड़ा अचरज हुआ। उन्होंने कहा—आप अन्तर्यामी हैं, नहीं तो मेरे शोक का हाल आपने कैसे जान लिया! मैंने तो इस सम्बन्ध में किसी से कुछ कहा नहीं।

संन्यासी ने कहा—बेटा, मैं कहता हूँ कि तुम्हारा जो खो गया है उसके लिए तुमको शोक न करके आनन्द ही मानना चाहिए।

है। संन्यासी भी शोक न करने का उपदेश करके न-जाने कहाँ चला गया।

चन्द्रशेखर ने कहा कि चाहे जिस तरह होगा, इस संन्यासी का पीछा नहीं छोड़ूँगा। इसी से उस गुप्त धन का पता चलेगा।

अब चन्द्रशेखर घर से निकलकर उस संन्यासी को खोजने चले। घूमते-घूमते एक साल बीत गया।

३

गाँव का नाम था धारागोल। वहाँ एक आटा-दालवाले की दूकान पर बैठकर चन्द्रशेखर तमाखू-चूना मलते हुए अन्य-मनस्क भाव से तरह-तरह की बातें सोच रहे थे। कुछ दूर पर मैदान के बीच से एक संन्यासी जाता हुआ देख पड़ा। पहले चन्द्रशेखर ने उस ओर कुछ ध्यान नहीं दिया। किन्तु थोड़ी देर बाद एकाएक उन्हें ध्यान आया कि यह तो वही संन्यासी है! झटपट वहाँ से उठकर चन्द्रशेखर उसी ओर दौड़े। उनकी इस हरकत से दूकानदार को भी बड़ा अचरज हुआ। किन्तु चन्द्रशेखर को वह संन्यासी नहीं मिला।

उस समय शाम का अँधेरा घिर आया था। चन्द्रशेखर यह निश्चय न कर सके कि अपरिचित स्थान में कहाँ पर उस संन्यासी का पता लगेगा। दूकान में लौटकर चन्द्रशेखर ने दूकानदार से पूछा—यह जो घना जङ्गल देख पड़ता है उस में क्या है?

दूकानदार ने कहा—एक समय यहाँ पर बड़ा भारी शहर बसा हुआ था। किन्तु एक फ़क़ीर के शाप से एक बड़ी महामारी में राजा और प्रजा सब मर गये। लोग कहते हैं कि वहाँ पर खोजने से अभी तक बहुत सा धन और रत्न पाये जाते हैं। लेकिन दोपहर को भी उसके भीतर जाने का किसी को साहस नहीं होता। जो गया वह लौटकर नहीं आया।

चन्द्रशेखर का चित्त चञ्चल हो उठा। वे रात भर उसी दूकान में चटाई पर पड़े-पड़े मच्छड़ों को मारते और उस जङ्गल की बात, उस संन्यासी की बात और खोये हुए काग़ज़ की बात पर विचार करते रहे। बारम्बार पढ़ने के कारण उस काग़ज़ की सब बातें चन्द्रशेखर को कण्ठ हो गई थीं। इसी से उस बेचैनी की दशा में, उनके मस्तक के भीतर यही गूँजता रहा—

राधा को विपरीत कर किया बुद्धि का काम।
गोल बिना आधा रहा वही सिद्धि का धाम॥

सिर गर्म हो उठा। किसी तरह इन दो लाइनों को चन्द्रशेखर अपने मन से हटा न सके। अन्त को सबेरे के समय जब उनकी आँख लग गई तब स्वप्न में दोनों सतरों का अर्थ उनकी समझ में आ गया। 'राधा' को विपरीत किया तो हुआ 'धारा'। उसमें 'गोल' मिला दिया तो हुआ 'धारागोल'। यह तो वही सिद्धि का धाम धारागोल है!

आँख खुलते ही चन्द्रशेखर उठ बैठे।

४

दिन भर जङ्गल में घूमकर चन्द्रशेखर फिर उसी दूकान पर लौट आये। दिन भर न कुछ खाया, न पिया। लौटते समय बड़े कष्ट से राह खोजे मिली।

दूसरे दिन थोड़ा सा चबेना लेकर चन्द्रशेखर फिर जङ्गल में गये। तीसरे पहर एक जलाशय मिला। उस तालाब के बीच में साफ़ पानी था। किनारे-किनारे चलने का रास्ता और कोकाबेली के पेड़ थे। पत्थर का पक्का घाट टूट-फूटकर मिट्टी में मिल गया है। वहीं चबेना चबाकर पानी पीकर चन्द्रशेखर इधर-उधर टहलकर देखने लगे।

तालाब के पश्चिम ओर एकाएक चन्द्रशेखर जैसे चौंककर खड़े हो गये। देखा, इमली के भीतर से एक बरगद का पेड़ निकला हुआ है। उसी समय उन्हें याद आ गया— "इमली में बरगद उगा जाओ दक्षिण ओर।"

दक्षिण तरफ़ और जाने पर बहुत घना जङ्गल देख पड़ा। वहाँ पर बेत की झाड़ी थी। उसके भीतर होकर चलना असम्भव था। चन्द्रशेखर ने मन में कहा कि इस जगह को न छोड़ना चाहिए।

झाड़ी के भीतर दृष्टि डालने से थोड़ी ही दूर पर चन्द्रशेखर को एक पुराने मन्दिर की कलसी देख पड़ी। चन्द्रशेखर बड़े कष्ट उठाते हुए उसी मन्दिर के पास जा पहुँचे। देखा, वहाँ पास ही एक चूल्हा बना है, और जली हुई लक-

ड़ियाँ पड़ी हैं। मन्दिर का द्वार टूटा हुआ था। चन्द्रशेखर ने बड़ी सावधानी से उसके भीतर झाँककर देखा। उसमें न कोई आदमी था, न कोई प्रतिमा थी। केवल एक कम्बल, कमण्डलु और गेरुआ कपड़ा पड़ा हुआ था।

उस समय सन्ध्या होने में अधिक देर न थी। गाँव बहुत दूर पर था। अन्धकार में जङ्गल के भीतर राह ढूँढ़ना कठिन था। इसी से उस मन्दिर में मनुष्य के रहने के चिह्न देखकर चन्द्रशेखर को बड़ी ख़ुशी हुई। मन्दिर के द्वार पर मन्दिर की गिरी हुई एक शिला पड़ी थी। उसी पर बैठकर सिर झुकाये सोचते-सोचते चन्द्रशेखर ने देखा, उसमें कुछ खुदा हुआ है। झुककर पढ़कर देखा, उसमें एक चक्र लिखा हुआ देख पड़ा। उसमें कुछ स्पष्ट और कुछ लुप्त अक्षर इस तरह लिखे हुए थे—
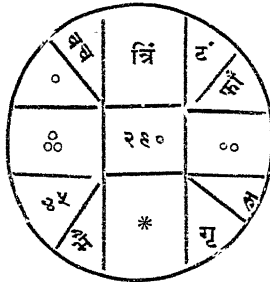
यह चक्र चन्द्रशेखर का सुपरिचित था। कितनी ही अमावसों में, मन्दिर के भीतर सुगन्धित धूप-धूम और घी के

दीपक के प्रकाश में, कागज़ पर अङ्कित इस चक्र-चिह्न के ऊपर झुककर, रहस्य समझने के लिए एकाग्रमन से उन्होंने देवी से प्रार्थना की है! आज अभीष्टसिद्धि के बहुत ही निकट आकर उनका सारा शरीर काँपने सा लगा। कहीं किनारे आकर नाव न डूब जाय, कहीं किसी साधारण भूल से सब मिट्टी न हो जाय, कहीं वह संन्यासी पहले ही आकर सब ले न गया हो, इसी आशंका ने उनके हृदय में हलचल सी मचा दी। बहुत सोचने पर भी वे यह निश्चय न कर सके कि अब क्या करना चाहिए। उन्हें जान पड़ने लगा कि वे शायद उस ऐश्वर्य-भाण्डार के ऊपर ही बैठे हुए हैं। किन्तु तो भी कुछ जान नहीं पाते!

बैठे-बैठे वे दुर्गा-दुर्गा कहने लगे। शाम का अँधेरा और भी घना हो आया। झींगुरों की झनकार जङ्गल में गूँज उठी!

५

इसी समय कुछ दूर पर घने जङ्गल के भीतर अग्नि का प्रकाश देख पड़ा। चन्द्रशेखर उस पत्थर पर से उठ खड़े हुए और उसी ओर लक्ष्य करके चले।

बहुत कष्ट से कुछ दूर जाकर एक पीपल के पेड़ की डाल पर से उन्हें स्पष्ट देख पड़ा कि वही परिचित संन्यासी अग्नि के प्रकाश में वही कागज़ सामने रक्खे एकाग्रभाव से ज़मीन पर एक लकड़ी से कुछ गणित सा कर रहा है।

वह वही चन्द्रशेखर के बाप-दादे के समय का काग़ज़ था! अरे बदमाश चोर! इसी से तूने चन्द्रशेखर को शोक न करने का उपदेश दिया था!

संन्यासी हिसाब करता है और फिर एक लकड़ी से ज़मीन नापता है। कुछ दूर नापकर हताश होकर सिर हिलाकर फिर हिसाब करने लगता है।

इस तरह करके जब रात बीत चली, जब सबेरे की ठण्डी हवा से वृक्षों के पत्ते हिल उठे, तब संन्यासी उस काग़ज़ को लपेटकर चल दिया।

चन्द्रशेखर अपने कर्त्तव्य को ठीक न कर सके। यह तो उन्हें निश्चित रूप से मालूम हो गया कि संन्यासी की सहायता के बिना वे उस लेख के रहस्य को किसी तरह समझ नहीं सकते। यह भी निश्चित था कि वह लोभी संन्यासी उनकी सहायता न करेगा। अतएव छिपे-छिपे संन्यासी की ताक लेने के सिवा और उपाय नहीं है। किन्तु दिन को गाँव में गये बिना भोजन नहीं मिल सकता। इसलिए कम से कम कल एक दफ़ा गाँव में जाना ही पड़ेगा।

सबेरे का अन्धकार कुछ फीका पड़ते ही चन्द्रशेखर पेड़ पर से उतर आये। जहाँ मिट्टी पर संन्यासी हिसाब लगा रहा था वहाँ आकर अच्छी तरह देखा, पर कुछ समझ में न आया। चारों ओर घूमकर देखा, जङ्गल के अन्य स्थानों से उस स्थान में कुछ अन्तर न था।

जब जङ्गल के भीतर प्रकाश फैल गया तब चन्द्रशेखर बड़ी सावधानी से चारों ओर देखते हुए गाँव की ओर चले। उन्हें डर था कि संन्यासी कहीं उनको देख न ले।

जिस दूकान में चन्द्रशेखर ठहरे हुए थे उसके पास ही एक विधवा के यहाँ उस दिन ब्रह्मभोज था। आज वहीं चन्द्रशेखर को भोजन मिल गया। कई दिन पेट भरकर भोजन न मिलने के बाद आज अच्छा भोजन मिला। चन्द्र-शेखर ने ख़ूब छक लिया। उसके बाद तमाखू-चूना फाँक-कर जैसे चन्द्रशेखर चटाई पर लेटे वैसे ही पहली रात को जगने के कारण उनकी आँख लग गई।

चन्द्रशेखर ने निश्चय किया था कि आज सिदौसी खा-पीकर पहले ही से ठिकाने पर पहुँच जायँगे। किन्तु ठीक उलटा हुआ। जिस समय उनकी आँख खुली उस समय सूर्य अस्त हो चुके थे। तब भी चन्द्रशेखर से नहीं रहा गया। वे अँधेरे में ही जङ्गल के भीतर घुसे।

देखते ही देखते रात चढ़ आई। पेड़ों के बीच दृष्टि किसी तरह काम नहीं देती—जङ्गल में पग-पग पर अटकना पड़ता था। चन्द्रशेखर को मालूम न था कि वे किधर, कहाँ जा रहे हैं। रात बीत जाने पर उन्हें मालूम हुआ कि वे रातभर जङ्गल के एक ही स्थान में घूमते रहे।

कौए काँव काँव करके उड़ते हुए गाँव की ओर जाने लगे। वह शब्द चन्द्रशेखर को व्यंग्यपूर्ण धिक्कार सा सुन पड़ा।

६

हिसाब में बार-बार भूल होने पर भी संन्यासी ने धैर्य नहीं छोड़ा और अन्त को उस सुरङ्ग की राह ढूँढ़ निकाली। वह संन्यासी मुँह में बत्ती दबाकर सुरङ्ग के भीतर घुसा। पक्की दीवार में जगह-जगह पर दरारें पड़ गई थीं—बीच-बीच में जगह-जगह पर पानी भी टपक रहा था। जगह-जगह ज़िन्दा मेंढक पड़े सो रहे थे। उस विकट राह से कुछ दूर जाने पर संन्यासी ने देखा कि सामने भी दीवार है—राह रुकी हुई है। कुछ भी समझ में न आया। दीवार में सब जगह साबर से ठोंक-ठोंककर देखा, कहीं पोला न जान पड़ा। कोई सन्देह नहीं रहा कि वह राह वहीं पर समाप्त हो गई है।

संन्यासी फिर उसी काग़ज़ को खोलकर बैठ गया और हाथ पर सिर रखकर सोचने लगा। वह रात इसी तरह बीत गई।

दूसरे दिन हिसाब लगाकर फिर संन्यासी उसी सुरङ्ग में घुसा। उस दिन गुप्तसंकेत के अनुसार संन्यासी ने उसी सामने की दीवार के एक विशेष स्थान से एक पत्थर हटा कर तङ्ग राह का पता लगाया। उसी राह से चलते-चलते फिर एक जगह राह बन्द मिली।

अन्त में पाँचवीं रात को हिसाब समाप्त करके संन्यासी कह उठा कि आज मुझे राह मिल गई; अब किसी तरह की भूल नहीं हो सकती।

राह बहुत ही जटिल थी। उसमें अनेकों शाखा-प्रशाखाएँ थीं। कहीं-कहीं इतनी तङ्ग राह थी कि बैठे-बैठे गुटकी मार-कर चलना पड़ता था। बड़े यत्न से बत्ती लिये चलते-चलते संन्यासी एक गोल कोठरी ऐसी जगह में पहुँचा। उस कोठरी के बीच में बड़ा भारी इँदारा था। बत्ती के उजेले में संन्यासी को उसकी तह नहीं देख पड़ी। कोठरी की छत से एक मोटी सी ज़ञ्जीर उस इँदारे के भीतर लटक रही थी। संन्यासी ने बड़ा ज़ोर लगाकर उस ज़ञ्जीर को ज़रा हिलाया तो 'ठन' करके एक भारी शब्द हुआ और उससे वह स्थान गूँज उठा। संन्यासी ज़ोर से कह उठा—मिल गया!

संन्यासी के मुँह से यह बात निकलते ही उस जगह की टूटी हुई दीवार पर से एक पत्थर लुढ़क पड़ा, साथ ही और एक सचेतन पदार्थ धम से गिरकर चिल्ला उठा। एकाएक इस शब्द से संन्यासी चौंक उठा। उसके हाथ से छूटकर बत्ती बुझ गई।

७

संन्यासी ने पूछा—कौन है?

कुछ भी उत्तर न मिला। तब अँधेरे में टटोलने से संन्यासी को वह किसी आदमी का शरीर मालूम पड़ा। उसे हिलाकर संन्यासी ने पूछा—तुम कौन हो?

फिर भी कुछ उत्तर न मिला। वह आदमी बेहोश हो गया था।

तब चकमक पत्थर को ठोंक-ठोंककर बड़े कष्ट से संन्यासी ने आग जलाई। इतने में उस आदमी को होश आ गया। उठने की चेष्टा से व्यथित होकर वह काँख उठा।

संन्यासी—कौन, चन्द्रशेखर! तुमको यह दुर्बुद्धि क्यों हुई?

चन्द्रशेखर ने कहा—बाबा माफ़ करो। भगवान् ने मुझको सज़ा दे दी। तुमको खींचकर पत्थर मारते समय मैं अपने को सँभाल नहीं सका। पैर फिसल जाने से आप भी आ रहा। मेरी पीठ की हड्डी ज़रूर टूट गई है।

संन्यासी ने पूछा—मुझे मारने से तुमको क्या मिलता!

चन्द्रशेखर ने कहा—मिलने की बात पूछते हो! तुम किस लोभ से मेरे मन्दिर से वह काग़ज़ चुरा लाकर इस सुरङ्ग में घूम रहे हो! तुम चोर हो—दग़ाबाज़ हो! मेरे पूर्वपुरुष को जो संन्यासी वह काग़ज़ दे गये थे उन्होंने कहा था कि 'तुम्हारे ही वंश का कोई आदमी इस लेख के भेद को जान सकेगा।' यह गुप्तधन हमारे वंश को ही मिलना चाहिए। इसी कारण कई दिन से मैं कुछ खाये-पिये बिना तुम्हारे पीछे-पीछे छाया की तरह फिरता रहा हूँ। आज जब तुम कह उठे कि "मिल गया!" तब मुझसे रहा नहीं गया। मैं तुम्हारे पीछे-पीछे आकर दीवार के इस गढ़े के भीतर छिपा बैठा था। वहीं से एक पत्थर उखाड़कर मैं तुमको मारने चला, किन्तु शरीर कमज़ोर था और जगह भी चिकनी थी, इसी से गिर पड़ा। अब तुम मुझे मार डालो सो भी अच्छा—मैं 'यक्ष' होकर

इस धन की रक्षा करूँगा। किन्तु तुम किसी तरह इस धन को न ले सकोगे। अगर लेने की चेष्टा करोगे तो मैं ब्राह्मण तुम्हारे ऊपर इसी इँदारे में फाँदकर आत्महत्या कर लूँगा। यह धन तुम्हारे लिए ब्रह्मरक्त—गोरक्त के तुल्य होगा। इस धन से कभी तुम सुख-भोग न कर सकोगे। मेरे पिता पितामह इसी धन में मन लगाकर मर गये हैं—इस धन का ध्यान करते-करते हमारा वंश दरिद्र हो गया। इस धन के लिए घर में अनाथ स्त्री और बच्चे को छोड़कर—खाना-पीना सुख-चैन छोड़कर—मैं पागल की तरह साल भर से फिर रहा हूँ। तुम मेरे सामने इस धन को कभी न ले सकोगे।

८

संन्यासी ने कहा—चन्द्रशेखर, तो सुनो। मैं सब बातें कहता हूँ। तुम जानते हो कि तुम्हारे बाबा के एक छोटे भाई थे और उनका नाम शंकर था?

चन्द्रशेखर ने कहा—हाँ, वे घर से चले गये थे। फिर उनका पता नहीं लगा।

संन्यासी ने कहा—मैं वही शंकर हूँ।

चन्द्रशेखर ने हताश होकर लम्बी साँस ली। अब तक चन्द्रशेखर यह समझे बैठे थे कि उस गुप्त धन के अधिकारी केवल वही हैं। किन्तु एक उन्हीं के आत्मीय ने आकर उनके इस ख़याल को मिट्टी में मिला दिया।

शंकर (संन्यासी) ने कहा—दादा (हरिहर) को जब से वह काग़ज़ संन्यासी से मिला तब से बराबर वे यह चेष्टा करते रहे कि मैं उसका पता न पा सकूँ। किन्तु वे जितना ही छिपाते थे उतना ही उसका पता लगाने के लिए मेरी उत्सुकता बढ़ने लगी। उन्होंने देवी के आसन के नीचे सन्दूक़ के भीतर वह काग़ज़ छिपा रक्खा था। मुझे पता लग गया। मैंने उसकी दूसरी कुञ्जी बना ली। नित्य उस सन्दूक़ से काग़ज़ निकालकर मैं उसकी नक़ल करने लगा। जिस दिन नक़ल पूरी हुई उसी दिन धन का पता लगाने के लिए मैं घर से चल दिया। मेरे घर में अनाथ स्त्री और एक बच्चा था। आज उनमें से कोई जीवित नहीं है।

मैं न-जाने कहाँ-कहाँ घूमता रहा। यह समझकर कि संन्यासी के दिये हुए काग़ज़ के लेख का अर्थ कोई संन्यासी ही बता सकता है, मैंने अनेक संन्यासियों की सेवा की। अनेक बने हुए संन्यासियों ने मेरे इस काग़ज़ का पता पाकर उसे चुराने की भी चेष्टा की। इसी तरह कई साल बीत गये। मुझे दमभर के लिए भी सुख या शान्ति न थी।

अन्त को पूर्वजन्म के पुण्य से कुमायूँ के पहाड़ पर स्वामी स्वरूपानन्द से मुलाक़ात हुई। उन्होंने मुझसे कहा—भैया, लोभ को मन से दूर करो। तब विश्वभर में व्याप्त सम्पत्ति आपसे आप तुमको मिल जायगी।

उन्होंने मेरे मन की बेचैनी मिटा दी। उनके प्रसाद से आकाश का प्रकाश और पृथ्वी की श्यामलता ही मुझे राज-सम्पत्ति से बढ़कर मालूम पड़ने लगी। एक दिन सर्दियों की ऋतु में शाम को पहाड़ की शिला पर जल रही बाबाजी की धूनी में उस कागज़ को मैंने जला डाला। बाबा कुछ मुसकाये। उस मुसकान का मतलब उस समय नहीं समझा था, अब समझा। उन्होंने अवश्य अपने मन में यही कहा था कि कागज़ जला डालना सहज है, किन्तु वासना को जला डालना सहज नहीं।

उस कागज़ का कोई चिह्न जब नहीं रह गया तब मेरे मन के चारों ओर से एक नागपाश का बन्धन सा खुल गया। छुटकारे के अपूर्व आनन्द से मेरा हृदय परिपूर्ण हो उठा। सोचा कि अब मेरे लिए कुछ डर नहीं है—अब मैं जगत् में कुछ नहीं चाहता।

इस घटना के उपरान्त मैं स्वामीजी से बिछड़ गया। मैंने बहुत खोजा, पर उनका कहीं पता न लगा।

तब मैं संन्यासी होकर निर्लिप्तभाव से इधर-उधर फिरने लगा। कई वर्ष बीत गये। उस कागज़ के लेख की बात एक तरह से भूल ही गई।

इसी समय एक दिन मैं इसी धारागोल के जङ्गल के भीतर घुसकर टूटे मन्दिर में जाकर ठहरा। दो-एक दिन रहने पर

मैंने देखा कि मन्दिर की दीवार में जगह-जगह पर तरह-तरह के चिह्न अङ्कित हैं। वे चिह्न मेरे पूर्वपरिचित थे।

मुझे कुछ भी सन्देह न रहा कि मैं इतने दिनों तक जिसकी खोज में घूम रहा था उसी का पता चल रहा है। मैंने मन में कहा कि अब यहाँ नहीं रहूँगा—इस जङ्गल को छोड़ जाऊँगा।

लेकिन छोड़कर जा न सका। सोचा—देख ही न लूँ, क्या है! कौतूहल को बिल्कुल मिटाकर जाना ही अच्छा। उन चिह्नों की बहुत देखभाल की—लेकिन कुछ फल न हुआ। बार-बार यही ख़याल होने लगा कि मैंने उस कागज़ को जला क्यों डाला। उसे पास रखने में हानि ही क्या थी!

फिर अपने गाँव गया। अपने पुरखों के घर की बहुत ही बुरी दशा देखकर मैंने सोचा कि मैं तो संन्यासी हूँ, मुझे तो धन और रत्न की कोई ज़रूरत नहीं। किन्तु ये ग़रीब तो गृहस्थ हैं। वह गुप्तधन इनके लिए निकाल देने में कुछ दोष नहीं है।

मुझे मालूम था कि वह संन्यासी का दिया कागज़ कहाँ है। उस कागज़ को लाने में मुझे कुछ कठिनाई नहीं हुई।

इसके बाद साल भर से इस जङ्गल में हिसाब लगाना और धन का पता चलाना ही मेरा काम रहा है। मेरे मन में और कोई चिन्ता न थी। जितना ही बार-बार बाधाओं का सामना करना पड़ता था उतना ही आग्रह बढ़ता

जाता था। पागल की तरह दिन-रात यही काम किया करता था।

मालूम नहीं, इसी बीच कब आकर तुमने मेरा पीछा किया। अगर मैं स्वाभाविक अवस्था में होता तो तुम कभी अपने को मुझसे छिपा न सकते। किन्तु मैं तो तन्मय हो रहा था। मुझे पता न था कि इधर उधर क्या हो रहा है।

जो गुप्तधन मैं खोज रहा था उसका अभी-अभी पता लगा है। यहाँ जितना धन है उतना धन पृथ्वी के बड़े-बड़े राजाओं के यहाँ भी न निकलेगा। केवल एक और इशारे का रहस्य जान लेने पर वह धन मिल जायगा।

वही इशारा सबसे कठिन है। किन्तु मैंने उसे भी मन में समझ लिया है। इसी कारण "मिल गया" कहकर ख़ुशी के मारे मैं चिल्ला उठा था। अगर चाहूँ तो दमभर में उसी धन-रत्न के ख़ज़ाने में जाकर खड़ा हो जाऊँ।

चन्द्रशेखर ने शङ्कर के पैर पकड़कर कहा—बाबा, तुम संन्यासी हो, तुम्हें तो धन की कोई ज़रूरत नहीं। मुझे उस धन के भण्डार में ले चलो।

शङ्कर ने कहा—आज मेरा अन्तिम बन्धन भी कट गया। तुम्हारा मारा पत्थर मेरे शरीर में तो नहीं लगा, किन्तु उसने मेरे मोह को चूर-चूर कर दिया। आज मुझे लोभ की कराल मूर्त्ति देख पड़ी! मेरे गुरु स्वामी स्वरूपानन्द की

उस मन्द मुसकान ने इतने दिनों के बाद मेरे हृदय के कल्याण-दीपक में न बुझनेवाला प्रकाश उत्पन्न कर दिया।

चन्द्रशेखर ने शङ्कर के पैर पकड़कर फिर कातर स्वर से कहा—तुम मुक्त पुरुष हो, पर मैं मुक्त नहीं हूँ। मुझे मुक्ति की चाह भी नहीं। इसी से प्रार्थना करता हूँ कि मुझको इस ऐश्वर्य से वञ्चित न करो।

"बेटा, तो तुम अपना यह काग़ज़ लो! अगर धन का पता लगा सको तो लगा लो।" यह कहकर साबर और वह काग़ज़ चन्द्रशेखर के पास रखकर संन्यासी शङ्कर चल दिये।

चन्द्रशेखर ने कहा—मुझ पर दया करो। मुझे छोड़ कर न जाओ। वह धन दिखा दो।

कुछ भी उत्तर न मिला।

तब चन्द्रशेखर उस सुरङ्ग से बाहर निकलने की चेष्टा करने लगे। किन्तु राह बहुत ही जटिल—गोरखधन्धे के समान—थी। बार-बार बाधाओं का सामना होने लगा। अन्त को घूम-घूमकर थक जाने पर वे एक जगह लेट गये। लेटते ही उन्हें नींद आ गई।

९

सोकर जब वे जागे तब यह जानने का कोई उपाय न था कि इस समय रात है या दिन, या कै बजे हैं। बहुत

भूख लगने पर चन्द्रशेखर ने धोती से चबैना निकालकर चबाया। उसके बाद फिर हाथ से टटोलकर सुरङ्ग से बाहर निकलने की राह खोजने लगे। अनेक स्थानों में बाधा पाकर चन्द्रशेखर बैठ गये। कोई उपाय न देखकर चन्द्रशेखर ने पुकारा—अजी संन्यासी बाबा, तुम कहाँ हो!

चन्द्रशेखर का शब्द उस सुरङ्ग की अनेक शाखा-प्रशाखाओं में प्रतिध्वनित हो उठा। पास ही से उत्तर मिला—मैं तुम्हारे पास ही हूँ। बतलाओ, क्या चाहते हो?

चन्द्रशेखर ने कातर स्वर से कहा—वह धन कहाँ है, मुझे दिखा दो।

फिर सन्नाटा छा गया। चन्द्रशेखर ने फिर कई बार पुकारा, पर कुछ उत्तर नहीं मिला। उसी अन्धकार-पूर्ण स्थान में चन्द्रशेखर फिर लेट रहे। नींद से फिर उठने पर अँधेरे में चन्द्रशेखर ने पुकारकर कहा—बाबा कहाँ गये?

पास ही से उत्तर मिला—यहीं हूँ। क्या चाहते हो?

चन्द्रशेखर ने कहा—मैं और कुछ नहीं चाहता, मुझे इस सुरङ्ग से बाहर निकाल ले चलो।

संन्यासी ने पूछा—तुम धन नहीं चाहते?

चन्द्रशेखर ने कहा—नहीं।

तब चकमक पत्थर झाड़ने का ठक-ठक शब्द सुन पड़ा और कुछ देर बाद प्रकाश देख पड़ा। संन्यासी ने कहा—तो आओ चन्द्रशेखर, इस सुरङ्ग से बाहर चलें!

चन्द्रशेखर ने कातर स्वर से कहा—तो बाबा क्या इतना परिश्रम बिल्कुल व्यर्थ ही चला जायगा ? इतने कष्ट के बाद भी क्या धन न पाऊँगा ?

उसी समय बत्ती बुझ गई।

कैसे निठुर हो !—कहकर चन्द्रशेखर वहीं बैठ गये और सोचने लगे। समय जानने का कोई उपाय नहीं, और अँधेरे का भी ओर-छोर नहीं। चन्द्रशेखर का जी चाहा कि अपने सारे शरीर और मन के बल को लगाकर उस अन्धकार को चूर्ण कर डालें। प्रकाश, आकाश और विश्वचित्र के वैचित्र्य को देखने के लिए उनका चित्त व्याकुल हो उठा। चन्द्रशेखर ने कहा—अजी संन्यासी, ओ निठुर संन्यासी, मैं धन नहीं चाहता—मुझे बाहर ले चलो।

संन्यासी ने कहा—धन नहीं चाहते ? तो फिर मेरा हाथ पकड़ लो और मेरे साथ चलो।

इस बार रोशनी नहीं हुई। एक हाथ से लठिया टेकते हुए दूसरे हाथ से संन्यासी का वस्त्र पकड़कर चन्द्रशेखर धीरे-धीरे चले। बहुत देर तक अनेक टेढ़े-मेढ़े मार्गों में होते हुए एक जगह पर आकर संन्यासी ने कहा—खड़े होओ।

चन्द्रशेखर खड़े हो गये। उसके बाद एक मोर्चा खाये हुए लोहे के फाटक के खुलने का उत्कट शब्द सुन पड़ा। संन्यासी ने चन्द्रशेखर का हाथ पकड़कर कहा—आओ।

चन्द्रशेखर आगे बढ़कर माना एक घर में पहुँचे। तब फिर चकमक पत्थर ठोकने का शब्द सुन पड़ा। कुछ देर बाद जब बत्ती जली तब बहुत ही विचित्र दृश्य देख पड़ा। चारों ओर दीवार से सटे हुए मोटे-मोटे सोने के पत्तर ढेर थे—मानो पाताल में किसी ने सूर्य का कठिन प्रकाश-पुञ्ज जमा कर रक्खा हो। चन्द्रशेखर की आँखें विस्मय से चमकने लगीं। वे पागलों की तरह कहने लगे—यह सोना मेरा है—इसको मैं किसी तरह छोड़कर नहीं जा सकता।

"अच्छा छोड़कर न जाओ; यह बत्ती यहाँ रक्खी है—और ये सत्तू और घड़ा भर पानी भी यहाँ रक्खा हुआ है।" देखते ही देखते संन्यासी वहाँ से निकल गया। उसके बाद ही फाटक के किवाड़े बन्द होने का शब्द सुन पड़ा।

चन्द्रशेखर बार-बार उस सुवर्णभाण्डार को उलट-पुलटकर देखते इधर-उधर घूमने लगे—छोटे-छोटे टुकड़ों को उठा-उठाकर फ़र्श पर डालने, गोद में रखने और अपने शरीर में छुआने लगे। अन्त को सोने के पत्तर बिछाकर वे उन्हीं पर लेट रहे। फिर जब जागकर उठे तब देखा, सोना चमक रहा है। सोने के सिवा और कुछ नहीं है। चन्द्रशेखर सोचने लगे कि पृथ्वी के ऊपर शायद इस समय सबेरा हुआ होगा—सब जीव-जन्तु आनन्द से जाग उठे होंगे। चन्द्रशेखर के घर के बाग़ से जो सबेरे भीनी-भीनी फूलों की महक आती थी वह भी कल्पना के द्वारा मानो उनकी नाक

में प्रवेश करने लगी। उनको मानो स्पष्टरूप से आँखों के आगे देख पड़ा कि किसानों के लड़के बैलों को लिये गाते हुए खेतों की ओर जा रहे हैं।

चन्द्रशेखर फाटक पर धक्के मार मारकर पुकारने लगे—अजी संन्यासी बाबा, क्या हो ?

द्वार खुल गया। संन्यासी ने कहा—क्या चाहते हो ?

चन्द्रशेखर ने कहा—मैं बाहर जाना चाहता हूँ। किन्तु क्या अपने साथ दो-एक सोने के टुकड़े भी न ले जा सकूँगा ?

संन्यासी ने उसका कुछ उत्तर न देकर एक नई बत्ती जलाई। पानी से भरा एक कमण्डलु और थोड़ा सा चबैना रख दिया। उसके बाद संन्यासी चला गया। फाटक फिर बन्द हो गया।

चन्द्रशेखर ने एक पतला सा सोने का पत्तर उठाया और धीरे-धीरे तोड़-तोड़कर उसके कई टुकड़े कर डाले। उन टुकड़ों को मिट्टी की तरह चारों ओर बिखरा दिया। कभी दाँतों से चबा-चबाकर कई पत्तरों पर निशान डाल दिये। कभी ज़मीन पर पड़े हुए पत्तर को वे बार-बार पैरों से रौंदने लगे। वे मन में कहने लगे कि पृथ्वी पर ऐसे कितने सम्राट् होंगे जो सोने को इस तरह नष्ट कर सकते हों ! चन्द्रशेखर को मानो प्रलय करनेवाला कोप चढ़ आया। उनका जी चाहने लगा कि इस सोने के ढेर को चूर्ण करके धूल की तरह झाड़ू से बुहार दें। और, इसी तरह वे पृथ्वी के सब सुवर्ण-सेवक राजा-महाराजाओं का भी अनादर कर सकते हैं।

इसी तरह जितनी देर तक हो सका, चन्द्रशेखर ने सुवर्ण को पददलित अपमानित करके अपने जी की जलन मिटाई। उसके बाद वे थककर सो रहे। जागने पर फिर उन्हें अपने चारों ओर वही सोने का ढेर देख पड़ा। तब फाटक में धक्के मारकर वे चिल्लाने लगे—अजी संन्यासी बाबा, मैं ऐसा सोना नहीं चाहता!—सोना मुझको न चाहिए।

किन्तु फाटक नहीं खुला। पुकारते-पुकारते चन्द्रशेखर का गला पड़ गया, किन्तु फाटक नहीं खुला। तब सोने की ईंटें उठा-उठाकर वे फाटक पर मारने लगे, लेकिन कुछ भी फल न हुआ। चन्द्रशेखर का मुँह उतर गया। उन्होंने मन में कहा कि तो फिर क्या वह संन्यासी न आवेगा! इस सुवर्ण के क़ैदख़ाने में क्या अन्न-पानी के लिए तड़प तड़पकर मरना पड़ेगा!

उस समय सुवर्ण को देखकर चन्द्रशेखर को बड़ा डर लगने लगा। विभीषिका के निःशब्द कठिन हास्य की तरह सुवर्ण के ढेर चारों ओर स्थिर भाव से पड़े हुए हैं। उनमें न हिलना-डुलना है और न कुछ परिवर्त्तन है। चन्द्रशेखर का जो हृदय इस समय धड़क रहा है उसके साथ उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं—कुछ भी सहानुभूति नहीं। वे सुवर्णपिण्ड न प्रकाश चाहते हैं, न आकाश चाहते हैं, न हवा चाहते हैं, न प्राण चाहते हैं और न मुक्ति चाहते हैं। वे इस चिरकालीन अन्धकार में सदा उज्ज्वल कठिन पड़े रहना पसन्द करते हैं।

चन्द्रशेखर सोचने लगे कि पृथ्वी पर इस समय सन्ध्या का समय होगा। कहाँ है वह सुनहरी सन्ध्याकाल की शोभा! कहाँ है वह सुवर्ण, जो घड़ी भर के लिए अपनी मनोहर आभा दिखलाकर अन्धकार में लीन हो जाता है! उसके बाद नक्षत्रों का निकलना, दीपक जलाकर बहुओं का घर के कोने में रखना, मन्दिरों में आरती के अवसर पर घण्टे बजना—सब याद पड़ने लगा।

गाँव की और घर की बहुत साधारण बातें भी आज चन्द्रशेखर की दृष्टि में महत्त्व की हो गईं। उनका टीपू कुत्ता जो पूँछ उठाये दीवार पर सोया करता था, वह कल्पना भी आज जैसे चन्द्रशेखर को व्यथित करने लगी। धारागोल गाँव में जिस दूकानदार के यहाँ कई दिन तक चन्द्रशेखर रहे थे वह इस समय दूकान बन्द करके अपने घर को जा रहा होगा। यह स्मरण करके चन्द्रशेखर को जान पड़ने लगा कि वह दूकानदार बड़े सुख में है!

चन्द्रशेखर फिर मन में कहने लगे कि न-जाने आज कौन वार है! यदि रविवार है तो बाज़ार से सौदा ख़रीद-ख़रीद कर लोग अपने घर जा रहे होंगे—साथ से छूटे हुए साथी को खड़े होकर पुकार रहे होंगे। खेतों के बीच की पगडण्डियों से होकर, गाँवों के भीतर होकर, किसान लोग सौदे की पोटली लिये नक्षत्रों के क्षीण प्रकाश में चले जा रहे होंगे।

धरती के ऊपर के इस विचित्र बृहत् चिर-चञ्चल जीवन में अत्यन्त तुच्छ अत्यन्त दीन होकर अपने जीवन को मिलाने के लिए मिट्टी की सैकड़ों तहें तोड़कर उनके निकट संसार की पुकार पहुँचने लगी। वह जीवन, वह आकाश, वह प्रकाश उन्हें पृथ्वी भर के रत्नों से अधिक बहुमूल्य जान पड़ने लगा। उन्हें जान पड़ने लगा कि घड़ी भर के लिए एक बार अगर अपनी उसी जननी जन्म-भूमि की धूल-भरी गोद में, उसी उन्मुक्त प्रकाशित नीले आकाश के तले, उसी सुगन्धित वायु की महक को सूँघकर केवल एक साँस लेकर मर जाऊँ तो भी मेरा जन्म सार्थक हो जाय।

इसी समय द्वार खुला। संन्यासी ने भीतर आकर कहा—चन्द्रशेखर, क्या चाहते हो?

चन्द्रशेखर—मैं और कुछ नहीं चाहता—मुझे इस सुरङ्ग से, इस अन्धकार से, इस गोरखधन्धे से, इस सोने के क़ैदख़ाने से बाहर निकाल ले चलो। मैं प्रकाश चाहता हूँ, आकाश चाहता हूँ, छुटकारा चाहता हूँ।

संन्यासी—इस सोने से भी बढ़कर बहुमूल्य रत्नों का भण्डार यहाँ पर है। वहाँ न चलोगे?

चन्द्रशेखर—नहीं।

संन्यासी—एक बार जाकर देख आने का कौतूहल भी नहीं है?

चन्द्रशेखर—नहीं। मैं देखना भी नहीं चाहता। मुझे यदि लँगोटी मारकर भीख माँगनी पड़े तो भी मैं यहाँ घड़ी भर रहना नहीं चाहता।

संन्यासी—तो आओ, चलो।

चन्द्रशेखर का हाथ पकड़कर संन्यासी उन्हें उसी गहरे इँदारे के पास ले गये और वह काग़ज़ उनके हाथ में देकर बोले—इसे तुम क्या करोगे?

चन्द्रशेखर ने उस काग़ज़ के टुकड़े-टुकड़े करके उसी इँदारे के भीतर फेंक दिये।